विनोबा के विच

प्रस्तावना-लेखक

श्री महादेव देसाई

संपादक

वियोगी हरि

सर्वोदय साहित्य माला १०२वाँ ग्रन्थ

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

शाखाएँ—दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : कलकत्ता : इलाहाबाद

दिसंबर १९४१ : २०००
जुलाई १९४२ : २०००

मूल्य

बारह आना

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
कनाट सर्कस, नई दिल्ली

मुद्रक,
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम-टेबुल प्रेस,
बनारस

निवेदन

श्री विनोबा जी के विचारो का पहला संस्करण हाथों-हाथ बिक गया, इससे मालूम होता है कि हिन्दी पाठको को ये विचार रुचते हैं। यह दूसरा सस्करण भी इसी आशा से प्रकाशित किया जा रहा है कि पाठक इसे उसी उत्साह से अपनावेंगे।

इस सस्करण मे कुछ लेख घट बढ़ गये है। जो कम किये गये है उन्हे आगे के भागों मे देने का विचार है।

इधर श्री विनोबा जी धारावाहिक रूप से लिख और बोल रहे हैं, हमारा इरादा है कि उनके चुने हुए नये पुराने सब लेख और भाषण कई भागों मे प्रकाशित किये जायँ। आशा है पाठक इन विचारो के प्रचार मे हमारी पूरी सहायता करेंगे।

पुस्तक का नाम 'विनोबा के विचार' होने पर भी पृष्ठो की शीर्षक पक्तियो पर गलती से 'मधुकर' नाम छपा है, जिससे यह भ्रम हो सकता है कि श्री विनोबा जी के मराठी मे 'मधुकर' नामक संग्रह मे के सब लेख इसमे हैं। पर ऐसा नही है। उसमे के कुछ और उसके सिवा लेख भी इसमे दिये गये है।

—प्रकाशक

प्रस्तावना

प्रसिद्धि की जिनको कभी परवाह नहीं थीं उनको पूज्य गॉधीजी के सत्याग्रह ने असाधारण प्रसिद्धि दे दी। यह प्रसिद्धि मिल गई तो उससे भी जलकमलवत् निर्लिप्त रहने की शक्ति जितनी श्री विनोबा की है उतनी और किसीकी नहीं है। जिन विशेषताओ के लिए पूज्य गाधीजी ने उन्हे प्रथम सत्याग्रही की हैसियत से पसन्द किया, उन विशेषताओ को सब लोग समझ नहीं सके हैं ऐसी मुझे आशंका है। कई बड़े-बड़े सरकारी अफसरो ने मुझसे कहा कि जवाहरलालजी, भूलाभाई तो बडे नेता है। उनको कड़ी सजा देनी पड़ती है क्योकि उनका प्रभाव हजारो लोगो पर है। विनोबा तो Small fry—यानी अल्प जीव—हैं उनको गाधीजी ने बढाया है, उनके असर का सरकार को डर नहीं है। डर हो या न हो मि० एमरी ने भी अब श्री विनोबा का नाम अपने निवेदन मे दिया और उनका एक सच्चे दयाधर्मी के नाम से उल्लेख किया है।

विनोबा का प्रभाव आज नहीं, वर्षों के बाद लोग जानेगे। उनकी थोड़ी विशेषताओ का निर्देश करना मैं आवश्यक समझता हूँ। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी है; शायद वैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भी होगे। वे प्रखर विद्वान् है; वैसे प्रखर विद्वान् और भी है। उन्होने सादगी को वरण किया है, उनसे भी अधिक सादगी से रहनेवाले गॉधीजी के अनुयायियो मे कई हैं। वे रचनात्मक कार्य के महान् पुरस्कर्त्ता और दिन-रात उसीमें लगे रहनेवाले व्यक्ति हैं; ऐसे भी कुछ गाधी-मार्गानुगामी है। उनकी जैसी तेजस्वी बुद्धि-शक्तिवाले भी कई है। परन्तु उनमे कुछ और भी चीजे हैं, जो और किसीमे नहीं है। एक निश्चय किया, एक तत्त्व ग्रहण किया तो उसका उसी क्षण से अमल करना—उनका प्रथम पंक्ति का गुण है। उनका दूसरा गुण

निरंतर विकासशीलता का है। शायद ही हममें से कोई ऐसा हो जो कह सके कि मैं प्रतिक्षण विकास कर रहा हूँ। वापू को छोडकर यदि और किसीमें यह गुण मैंने देखा है तो विनोवा मे। इसलिए ४६ साल की उम्र में उन्होंने अरबी-जैसी कठिन भाषा का अभ्यास किया, कुरान-शरीफ का अनुष्ठान किया और उसके हाफिज बन गये हैं। वापू के कई बड़े अनुयायी ऐसे हैं जिनका प्रभाव जनता पर बहुत पड़ता है, पर वापू के शायद ही किसी अनुयायी ने सत्य-अहिंसा के पुजारी और कार्यरत सच्चे सेवक उतने पैदा किये हों जितने कि विनोवा ने पैदा किये हैं। "योगः कर्मसुकौशलम्" के अर्थ मे विनोवा सच्चे योगी हैं। उनके विचार, वाणी और आचार में जैसा एकराग है, वैसा एकराग बहुत कम लोगों मे होगा, इसलिए उनका जीवन एक मधुर संगीतमय है। "संचार करो सकल कर्मे शान्त तोमार छन्द" कविवर टैगोर की यह प्रार्थना शायद विनोवा पूर्वजन्म से करके आये हैं। ऐसे अनुयायी से गांधीजी और उनके सत्याग्रह की भी शोभा है।

उनके कुछ लेखो का यह संग्रह बड़ा उपयोगी होगा। उनकी मित-भाषिता, उनके विचार और वाणी का संयम और उनकी तत्त्वनिष्ठा का इस संग्रह मे पद-पद पर परिचय मिलेगा।

सेवाग्राम
२५-११-४०

महादेव ह० देसाई



प्रथम सत्याग्रही विनोबा

श्री विनोबा भावे कौन है ? मैने उन्हे ही इस सत्याग्रह के लिए क्यो चुना ? और किसीको क्यो नहीं ? मेरे हिन्दुस्तान लौटने पर सन् १९१६ मे उन्होने कालिज छोड़ा था। वे संस्कृत के पण्डित है। उन्होने आश्रम मे शुरू से ही प्रवेश किया था। आश्रम के सबसे पहले सदस्यों मे से वे एक हैं। अपने संस्कृत के अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए वे एक वर्ष की छुट्टी लेकर चले गये। एक वर्ष के बाद ठीक उसी घड़ी, जब कि उन्होने एक वर्ष पहले आश्रम छोड़ा था, चुपचाप आश्रम मे फिर आ पहुँचे। मै तो भूल भी गया था कि उन्हे उस दिन आश्रम मे वापस पहुँचना था। वे आश्रम मे सब प्रकार की सेवा-प्रवृत्तियो—रसोई से लगाकर पाखाना-सफाई तक—मे हिस्सा ले चुके है। उनकी स्मरणशक्ति आश्चर्यजनक हैं। वे स्वभाव से ही अध्ययनशील है। पर अपने समय का ज्यादा-से-ज़्यादा हिस्सा वे कातने मे ही लगाते है, और उसमे ऐसे निष्णात हो गये है कि बहुत ही कम लोग उनकी तुलना मे रखे जा सकते है। उनका विश्वास है कि व्यापक कताई को सारे कार्यक्रम का केन्द्र बनाने से ही गॉवो की गरीबी दूर हो सकती है। स्वभाव से ही शिक्षक होने के कारण उन्होंने श्रीमती आशादेवी को दस्तकारी के द्वारा बुनियादी तालीम की योजना का विकास करने मे बहुत योग दिया है। श्री विनोबा ने कताई को बुनियादी दस्तकारी मानकर एक पुस्तक भी लिखी है। वह बिलकुल मौलिक चीज है।' उन्होंने हॅसी उडानेवालों को भी यह सिद्ध करके बता दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है कि जिसका उपयोग बुनियादी तालीम में बख़ूबी किया जा सकता है। तकली कातने मे तो उन्होंने क्रांति ही ला दी है, और उसके अन्दर छिपी हुई तमाम

शक्तियों की खोज निकाला है। हिन्दुस्तान मे हाथ-कताई मे इतनी सम्पूर्णता किसीने प्राप्त नहीं की जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदय में छूआछूत की गंध तक नहीं है। साम्प्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है जितना कि मेरा। इस्लामधर्म की खूबियों को समझने के लिए उन्होंने एक वर्ष तक कुरान-शरीफ का मूल अरबी में अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी पढ़ी। अपने पडोसी मुसल्मान भाइयो से अपना सजीव सम्पर्क बनाये रखने के लिए उन्होंने इसे आवश्यक समझा।

उनके पास उनके शिष्यो और कार्यकर्त्ताओ का एक ऐसा दल है, जो उनके इशारे पर हर तरह का बलिदान करने को तैयार है। एक युवक ने अपना जीवन कोढ़ियो की सेवा मे लगा दिया है। उसे इस काम के लिए तैयार करने का श्रेय श्री विनोबा को ही है। औषधियों का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी अपने कार्य में अटल श्रद्धा होने के कारण उसने कुष्टरोग की चिकित्सा को पूरी तरह समझ लिया है। उसने उनकी सेवा के लिए कई चिकित्सा-घर खुलवा दिये हैं। उसके परिश्रम से सैकडों कोढ़ी अच्छे हो गये हैं। हाल ही मे उसने कुष्ठ-रोगियो के इलाज के सम्बन्ध में एक पुस्तिका मराठी मे लिखी है।

विनोबा कई वर्षों तक वर्धा के महिला-आश्रम के सचालक भी रहे हैं। दरिद्रनारायण की सेवा का प्रेम उन्हें वर्धा के पास के एक गॉव में खींच ले गया। अब तो वे वर्धा से पॉच मील दूर पौनार नामक गॉव में जा बसे हैं और वहाँ से उन्होंने अपने तैयार किये हुए शिष्यों के द्वारा गॉववालों के साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया है। वे मानते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए "राजनीतिक स्वतंत्रता" आवश्यक है। वे इतिहास के निष्पक्ष विद्वान हैं। उनका विश्वास है कि गाँववालों का रचनात्मक कार्यक्रम के बगैर सच्ची आजादी नहीं मिल सकती। और रचनात्मक

कार्यक्रम का केन्द्र है खादी। उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसा का बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिह्न है। उनके जीवन का तो वह एक अंग ही बन गया है। उन्होने पिछली सत्याग्रह की लड़ाइयो मे सक्रिय भाग लिया था। वे राजनीति के मंच पर कभी लोगों के सामने आये ही नहीं। कई साथियो की तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञाभंग के अनुसंधान मे शान्त रचनात्मक काम कही ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहॉ आगे ही राजनैतिक भाषणो का अखण्ड प्रवाह चल रहा है वहॉ जाकर और भाषण दिये जाये। उनका पूर्ण विश्वास है कि चरखे मे हार्दिक श्रद्धा रखे बिना और रचनात्मक कार्य मे सक्रिय भाग लिये बगैर अहिंसक प्रतिकार सम्भव नहीं।

श्री विनोबा युद्धमात्र के विरोधी है। परन्तु वे अपनी अन्तरात्मा की तरह उन दूसरो की अन्तरात्मा का भी उतना ही आदर करते हैं जो युद्धमात्र के विरोधी तो नही है, परन्तु जिनकी अन्तरात्मा इस वर्त्तमान युद्ध मे शरीक होने की अनुमति नही देती। अगरचे श्री विनोबा दोनो दलों के प्रतिनिधि के तौर पर है, यह हो सकता है कि सिर्फ हाल के इस युद्ध मे विरोध करनेवाले दल का खास एक और प्रतिनिधि चुनने की मुझे आवश्यकता लगे।

मो० क० गांधी

'हरिजन-सेवक' से]

गांधी-साहित्य

१.	आत्मकथा	॥), १), १॥)
२.	दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह	१॥)
३.	अनीति की राहपर	॥=)
४.	स्वदेशी और ग्रामोद्योग	॥)
५.	ब्रह्मचर्य	॥)
६.	युद्ध और अहिंसा	॥।)
७.	गीताबोध	=)
८.	मंगल प्रभात	-)
९.	अनासक्तियोग	=)
१०.	सत्याग्रह : क्यों, कब और कैसे?	≡)
११.	रचनात्मक कार्यक्रम	=)

सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

विषय-सूची

पहला-खंड

मधुकर

दूसरा-खंड

अन्य विचार

मधुकर

: १ :

बूढ़ा तर्क ❀

ज़्यादा उम्रवाले को अपने यहाँ बूढा कहते है। इस देश मे आज-कल ऐसे बूढ़े बहुत कम मिलते है। हम लोगो की जिन्दगी का औसत २४ वर्ष का पडता है। कहते है विलायत वगैरह देशो मे इससे दूना है। इसलिए वहाँ बूढ़े बहुत मिलते है।

लेकिन अपने यहाँ वैसे बूढ़ो की चाहे कमी हो, पर एक और तरह के बूढो की तो बहुतायत ही है। वह किस तरह के है ? किसी विद्वान् ने कहा है कि नयी चीज सीखने की आशा जिसने छोड़ दी वह बूढा है। ऐसे बूढे अपने यहाँ जहाँ देखिए मिल जायेगे। बचपन मे नसीब से जो पल्ले पड़ गया, पड़ गया। फिर जरा बड़े होकर कोई पेशा पकड़ लेने पर तो कोई चीज सीखने को कहिए तो उनसे कुछ नहीं होने का। इस जड़ता ने पढ़-अनपढ दोनो मे मुद्दतो की गुलामी के कारण घर-सा कर लिया है। पढे हुओ मे मात्रा कुछ अधिक ही है, कम नहीं।

एक बार एक राष्ट्रीय पाठशाला के शिक्षक को मैंने स्वाभाविक रूप से समझाया कि "अजी, तुम थोडी-सी हिन्दी सीख लो। हिन्दी को हम राष्ट्रीय भाषा मानते है, तो राष्ट्रीय पाठशाला मे हिन्दी की शिक्षा को स्थान होना चाहिए। और हिन्दी कोई कठिन भाषा नहीं है, सहज है (और इसी कारण वह राष्ट्रभाषा बन सकी है)। गर्मी की छुट्टी मे हिन्दी

❀ स्मरण रहे यह लेख मराठी से अनुवादित है और विनोबा जी महाराष्ट्रीय हैं।

भाषा आसानी से सीखी जा सकेगी। तुम सीख लो तो फिर अपने यहाँ के लड़कों को भी थोड़ी हिन्दी सिखा दी जायेगी।" इसपर उसकी ओर से सीधा जवाब मिला, "आप जो कहते हैं वह ठीक है। हिन्दी कोई वैसी भाषा नहीं है। पर अब मुझसे कोई नयी चीज सीखने का पचड़ा पार नहीं लगेगा। मुझे जो कुछ आता है उससे आप जी चाहे जितना काम ले लीजिए। पर नया सीखने के लिए तो क्षमा ही कीजिए। सीखते-सीखते नाकों दम हो गया!" बेचारा जिन्दगी से भी 'नकदम' जान पड़ा। इसका नाम है 'बूढ़ा'।

यह तो हुई सीधी हिन्दी सीखने की बात। अगर कोई ज़रा आगे बढ़कर कहे कि "हिन्दू-मुस्लिम-एकता दृढ़ करनी हो तो दोनो को एक-दूसरे को अच्छी तरह जान लेना चाहिए। इससे बहुत सी नासमझी अपने-आप दूर हो जायेगी। इसके लिए देव-नागरी लिपि के साथ-साथ राष्ट्रीय पाठशालाओं में उर्दू लिपि भी सिखाई जानी चाहिए। और यह करने के लिए पहले शिक्षकों को वह लिपि सीख लेनी चाहिए।" फिर तो हद ही हो जायेगी। "अजी साहब, मुसलमानों की सारी बातें उल्टी होती हैं। हम चोटी रखते हैं, वह कटवाते हैं। हम दाढ़ी साफ कराते हैं, वह दाढ़ी रखाते हैं। यही बात उनकी लिपि की भी बतलाते हैं। हम बाईं ओर से दाहिनी तरफ लिखते हैं तो वह दाहिनी तरफ़ से बाईं ओर! ऐसी लिपि हम कैसे सीख सकते हैं?" यह उनका जवाब है। यह काल्पनिक नहीं है, एक सज्जन से प्रत्यक्ष मिला हुआ है। मुसलमानों के बारे में उनका कथन मजाक में वैसा हो गया, अन्यथा वह उनके मन के भाव नहीं थे। मन की बात इतनी ही थी कि "नया नहीं सीखना।"

और अगर सूत कातने को कह दिया? फिर तो पूछिए ही नहीं। "पहले तो वक्त ही बहुत कम मिलता है। और वक्त अगर ज्यों त्यों करके निकाला भी, तो आजतक ऐसा काम कभी किया नहीं तो अब

कैसे होगा ?" यहाँ से शुरूआत होगी। "जो आजतक नहीं हुआ वह आगे भी नहीं होने का।" यह बूढा तर्क है। मालूम नही इन बूढ़ो को यह क्यों नहो समझ पड़ता कि जो आजतक नही हुई ऐसी बहुत-सी बाते आगे होनेवाली है। आजतक मेरे लडके का ब्याह नही हुआ वह आगे होने को है, यह मेरी समझ मे आता है, लेकिन अबतक मेरे हाथ से सूत नहीं कता वह आगे कतने को है, यह मेरी समझ मे क्यो नहीं आता ? इसका जवाब साफ है। अबतक हमने स्वराज नहीं पाया है वह आगे पाना है, यह हमारे ध्यान में न होने की वजह से। और इसीके साथ अबतक मै मरा नहीं तो भी आगे मरना है, बल्कि अबतक मैं मरा नहीं इसीलिए आगे मरना है, इस बात को बिसर जाने की वजह से।

मेरे मनीराम, आजतक मै मरा नही इससे आगे नही मरना है, ऐसे बूढे तर्क का आसरा मत लो, नही तो फँसोगे।

: २ :

त्याग और दान

एक आदमी ने ईमानदारी का व्यवहार रखकर पैसा कमाया और उससे अपनी कुटुम्ब-रूपी गाडी सुख-चैन से चलाता है। बाल-बच्चो पर उसे ममता है; देह के लिए आसक्ति है। स्वभावतः पैसे पर उसका सारा दार-मदार है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानी से बनाता है और यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च जमा के अन्दर है और उससे 'पूँजी' कुछ बढ़ी ही है, उसे खुशी होती है। बड़े समारोह से और उतने ही भक्तिभाव से भी वह लक्ष्मीजी की पूजा करता है। उसे द्रव्य का लोभ है, फिर भी नाम या परोपकार का उसे बड़ा खयाल है। उसे विश्वास है कि दान-धर्म के लिए—इसीमें देश को भी ले लीजिए—खर्च किया हुआ धन ब्याज-समेत वापस मिल जाता है। इसलिए इस काम में वह मुक्तहस्त होकर खर्च करता है। अपने आस-पास के गरीबों को उसका इस तरह सहारा रहता है जिस तरह छोटे बच्चो को अपनी माँ का।

दूसरे एक आदमी ने इसी तरह सचाई से पैसा कमाया था। लेकिन उससे उसे खुशी न होती थी। उसने एक बार बाग के लिए कुआँ खुदवाया। कुआँ बहुत गहरा था। उसमें से थोड़ी-सी मिट्टी, कुछ छर्री और बहुत-से पत्थर निकले। कुआँ जितना गहरा था, इन चीजों का ढेर भी उतना ही ऊँचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा, "मेरी तिजोरी में भी ऐसा ही एक टीला लगा हुआ है, उसी अनुपात से किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया होगा?" ज़रा गहरे जाकर सोचा और वह चौंक उठा। यह कुआँ तो उसका गुरु बन गया। कुएँ से उसे जो

कसौटी मिली उसपर उसने अपनी सचाई घिसकर देखी, वह खरी नहीं उतरी। इस विचार ने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई' की रक्षा मैंने की है जरूर, फिर भी इस बालू की बुनियाद पर मेरा मकान कबतक ठहर सकेगा ? अन्त मे पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियो मे उसे कोई फर्क़ नही दिखाई दिया। यह सोचकर कि फ़ुज़ूल का कूड़ा-कचरा भरकर रखने से क्या लाभ, वह एक दिन सवेरे उठा और अपनी सारी सम्पत्ति गधे पर लादकर गगा ले गया। "माँ, मेरा पाप धो डाल !" कहकर उसने वह सारी कमाई गंगा माता के अचल मे डाल दी। स्नान करके बेचारे ने उससे छुटकारा पाया। उससे कोई पूछता, "सम्पत्ति का तब दान ही क्यो न कर दिया ?" तो जवाब देता, "दान करते समय 'पात्र' को भी तो देखना पड़ता है न ? अपात्र को दान देने से धर्म के बदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे गंगा का बना-बनाया 'पात्र' मिल गया, वहीं मैंने दान कर दिया। इससे भी संक्षेप मे वह कहता है, "कूड़े-कचरे का भी कही दान किया जाता है ?" उसका अन्तिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके सम्पत्ति-त्याग से उसके सब यार-दोस्तो ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दान की है, दूसरी त्याग की। आज पहली मिसाल जिस तरह दिल मे पैठ जाती है उस तरह दूसरी नही। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारो ने भी दान की महिमा कलियुग के लिए कही है। 'कलियुग' मानी क्या ? कलियुग मानी हृदय की कमजोरी। दुर्बल हृदय द्रव्य के लोभ से बिल्कुल नही छूट सकता। इसलिए उसके मन की उडान अधिक-से-अधिक दान तक ही जा सकती है। त्याग तक वह पहुँच ही नहीं सकती। लोभी मन के लिए त्याग की कल्पना भी असह्य होती है। इसलिए उसके सामने शास्त्रकारो ने दान के ही गुण गाये है।

त्याग तो बिलकुल 'मूले कुठारः' करनेवाला है। दान ऊपर-ही-ऊपर से कोंपलें नोचने जैसा है। त्याग पीने की दवा है; दान सिर पर लगाने की सोंठ है। त्याग में अन्याय के प्रति चिढ है; दान में नामवरी का लालच है। त्याग से पाप का मूलधन चुकता है; और दान से पाप का व्याज। त्याग का स्वभाव दयापूर्ण है; दान का ममतापूर्ण। धर्म दोनो ही है। त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है; दान का उसकी तलहटी मे।

पुराने ज़माने मे आदमी और घोडा अलग-अलग रहते थे। कोई किसी के अधीन न था। एक बार आदमी को एक ज़रूरी काम आ पड़ा। उसने थोडी देर के लिए घोडे से उसकी पीठ किराये पर मॉगी। घोड़े ने भी पड़ोसी-धर्म की सुध कर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमी ने कहा, "लेकिन तेरी पीठ पर मै यों नहीं बैठ सकता; तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूँगा।" लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया, और घोड़े ने भी उसका काम बजा दिया। अब करार के मुताबिक घोड़े की पीठ खाली करनी चाहिए, पर आदमी को लोभ न छोड़ सका। वह कहता है, "देख भाई, तेरी यह पीठ तो मुझसे छोडी नहीं जाती। हॉ, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूँगा। इसके बदले मे मै तेरी खिदमत करूँगा, तेरे लिए घुड़साल बनाऊँगा, तुझे दाना-घास दूँगा, पानी पिलाऊँगा, खरहरा करूँगा, जो कहेगा वह करूँगा, पर छोड़ने की बात मुझसे मत कहना।" घोड़ा बेचारा कर ही क्या सकता था? जोर से हिनहिनाकर उसने अपनी शिकायत भगवान् के दरबार में पेश की। घोड़ा त्याग चाहता था; आदमी दान की बातें कर रहा था। हे भलेमानस, कम-से-कम अपना करार तो पूरा होने दे!

: ३ :

कृष्ण-भक्ति का रोग

'दुनिया पैदा करें' ब्रह्माजी की यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कारबार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मन मे आया कि, 'अपने काम मे भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे तो बडा मजा रहेगा, इसलिए आरंभ मे उन्होने एक तेज-तर्रार टीकाकार गढा। और उसे यह अख्तियार दिया कि अब मै जो कुछ गढूंगा उसकी जॉच का काम तुम्हारे सिपुर्द है। इतनी तैयारी के बाद ब्रह्माजी ने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकार की जॉच के सामने कोई चीज 'बे-ऐब' ठहर ही न पाती। "हाथी ऊपर नही देख पाता, ऊँट ऊपर ही देखता है। गदहे मे तेजी नहीं है, बंदर मे शान्ति नही है।" यो टीकाकार ने अपनी टीका के तीर छोडने शुरू किये। ब्रह्माजी की बुद्धि चकरा गयी। फिर भी उन्होने एक आखिरी कोशिश करने की ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढ़ा। टीकाकार उसे निरखने लगा। अन्त मे एक चूक निकाल ही दी। "इसकी छाती मे एक खिड़की होनी चाहिए थी, जिसमे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले,—"तुझे रचा यही मेरी एक चूक हुई, अब मै तुझे शकरजी के सिपुर्द करता हूँ।"

यह एक पुरानी कहानी कही पढी थी। इसके बारे मे शंका करने की सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानी के वर्णन के अनुसार टीकाकार शकरजी के सिपुर्द हुआ नही दीखता। शायद ब्रह्मा

जी को उनपर रहम आ गया हो, या शंकरजी ने उसपर अपनी शक्ति न आजमायी हो। चाहे जैसे हो, इतना सच है कि आज उसकी जाति बहुत फैली हुई पायी जाती है। गुलामी के जमाने मे कर्तृत्व बाकी न रह जाने पर वक्तव्य को मौका मिलता है। काम की बात खतम हुई कि बात का काम! और बोलना ही है तो नित्य नये विषय कहाँ से खोजे जायं? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया— "निन्दा-स्तुति जन की; वार्ता वधू-धन की।" पर निन्दा-स्तुति मे भी तो कुछ बाट-बखरा रहना चाहिए। निन्दा अर्थात् पर-निन्दा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजी ने टीकाकार को भला-बुरा देखने को तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा; ब्रह्माजी का बुरा देखा। मनुष्य के मन की रचना कुछ ऐसी चमत्कारी है कि दूसरे के दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं वैसे गुण नहीं दिखाई देते। संस्कृत में 'विश्व-गुणादर्श-चंपू' नाम का एक काव्य है। वेंकटाचारी नाम के एक दाक्षिणात्य पंडित ने लिखा है। उसमे कल्पना है कि कृशानु और विभावसु नाम के दो गंधर्व विमान मे बैठकर फिरते हैं, और जो कुछ उनकी नजरों के सामने आता है उसकी चर्चा करते रहते हैं। कृशानु दोष-द्रष्टा है; विभावसु गुण-ग्राहक है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टि मे वर्णन करते हैं। गुणादर्श अर्थात् 'गुणों का दर्पण' इस काव्य का नाम रखकर कवि ने अपना निर्णायक मत विभावसु के पक्ष में दिया है। तथापि सारे वर्णन के रंग-ढंग का ठाट कुछ ऐसा है कि अन्त मे पाठक के मन पर कृशानु के मत की छाप पड़ती है। गुण लेने के इरादे से लिखी हुई चीज की तो यह दशा है। फिर दोष देखने की वृत्ति होती तो क्या हाल होता?

चन्द्र की भाँति प्रत्येक वस्तु के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते हैं। इसलिए छिद्रान्वेषी मन के यथेच्छ विचरने में कोई बाधा पड़नेवाली नहीं

है। 'सूर्य दिन मे दिवाली करता है तो रात को तो अंधेरा ही देता है' इतना कहने भर से उस सारी दिवाली की होली हो जायगी। उसमे भी अवगुण ही लेने का नियम बना लिया जाय तो दो दिनो मे एक रात न दिखकर एक दिन के मुकाबले मे दो राते दिखाई देगी। फिर अग्नि की ज्योति की ओर ध्यान न जाकर धुएँ से अग्नि का अनुमान करनेवाले न्याय शास्त्र का निर्माण होगा। भगवान् ने यह सब मौजे गीता मे बतलायी है। अग्नि का धुआ, सूर्य की रात अथवा चंद्र का कृष्ण-पक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तो' का उन्होने स्वतत्र वर्ग रक्खा है। दिन मे आँखे बन्द की तो अँधेरा और रात को आँखे खोली तो अँधेरा—स्थितप्रज्ञ की इस रीति के अनुसार इन लोगो का कार्य-क्रम है। पर भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के लिए मोक्ष बतलाया है, और इनके लिए बडी-से-बड़ी दुर्गति। पर इतना होने पर भी यह सप्रदाय छुतहे रोग की तरह बढ रहा है। पुतली के काली होने या काले रग मे आकर्षण अधिक होने की वजह से काला पक्ष जैसा हमारी आँखो मे खुबता है वैसा उज्ज्वल पक्ष नहीं खुबता। ऐसी स्थिति मे यह साम्प्रदायिक रोग किसी औषधि से अच्छा होगा, यह जान रखना जरूरी है।

पहली दवा है चित्त मे धँसी हुई इस 'कृष्ण-भक्ति' को बाहरी कृष्ण के दर्शन न कराएँ, अन्दरूनी कृष्ण दिखाएँ। लोगो की कालिख देखने की आदी निगाह को मन के भीतर का कालापन दिखाएँ। विश्व के गुण-दोष जाँच कर देखने वाला मनुष्य बहुधा खुद को निर्दोष मान बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होनेपर उसकी परीक्षा की नगी तलवार अपने-आप भुथरी पड़ जाती है। बायबिल के 'नये करार' मे इस बारे मे एक सुन्दर प्रसग का उल्लेख है—एक बहन से कोई बुरा काम बन गया। पंच लोग बैठे जाच और इन्साफ़ के लिए। कहना न होगा कि काफ़ी तादाद मे तमाशाई भी जुट गये थे। पर उस बहन के सद्भाग्य से

भगवान ईसा भी वहाँ पधार गये थे। पंचो ने हुक्म सुनाया। "इस बहन ने भारी कुसूर किया है। सब लोग पत्थरो से मार-मारकर उसे मार डाले।" फैसला सुनते ही लोगों के हाथ खुजाने लगे और अड़ोस-पड़ोस के ढेले थर-थर काँपने लगे। भगवान ईसा के मन मे उन ढेलों पर करुणा उत्पन्न हुई। उन्होने खड़े होकर सबको एक ही बात कही—'जिसका मन बिल्कुल साफ़ हो वह पहला ढेला मारे' जमात ज़रा देर के लिए ठिठक गयी। फिर धीरे-धीरे वहाँ से एक-एक आदमी खिसकने लगा। अन्त मे वह अभागी बहन और भगवान ईसा यह दो ही रह गये। उन्होंने उसे थोडा समझाया और प्रेम का सदेश दिया। यह कहानी हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो घट खोजा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। दूसरे के दोष दिखें ही नहीं इसके लिए यह पहली दवा हैं। निगाह के फेर मे दोष दिखने के बाद यह दूसरी दवा खास तरह से उपयोगी है। इस से मन भीतर-ही-भीतर तड़फड़ायेगा। दो-चार दिन नींद भी कम पड़ जायगी। पर आखिर में थककर मन शात हो जायगा। तानाजी के गिर जाने पर मावलों के पीठ दिखाने के रंग दिखाई पड़ने लगे। तब जिस रस्सी की मदद से वह गढ पर चढे थे और जिसकी मदद से अब वह उतरने का प्रयत्न करनेवाले थे वह रस्सी ही सूर्याजी ने काट डाली। "वह रस्सी मैंने सिरे से काट दी है" सूर्याजी के इस एक वाक्य ने लोगों में निराशा की वीरश्री पैदा कर दी और गढ़ सर हो गया। रस्सी काट डालने का तत्त्वज्ञान बहुत ही महत्त्व का है। इसपर अलग से लिखने की जरूरत है। इस वक्त तो इतने से ही मतलब है कि मौन रस्सी काट देने जैसा काम कर देता है। 'दूसरे के दोष देखना भूल जा, नहीं तो बैठ कर तड़फड़ाता रह', मन पर यह नौबत आ

जाती है। और यह हुआ नही कि सारा मार्ग सरल हो जाता है। कारण, जिसको जीना है उसके लिए बहुत समयतक तड़फडाते बैठना सुविधाजनक नही होता।

तीसरी दवा है कर्मयोग मे मग्न हो रहना। जैसे आज सूत कातना अकेला ही ऐसा उद्योग है कि छोटे-बडे सब को काफ़ी हो सकता है, वैसे ही कर्म-योग एक ही ऐसा योग है जिसकी सर्वसाधारण के लिए बेखटके सिफारिश की जा सकती है। किंबहुना, सूत कातना ही आज का कर्म-योग है।

यह सूत कातने का कर्म-योग स्वीकार किया कि लोक-निंदा करते रहने के लिए फुर्सत ही नही रहती। जैसे किसान अन्न के दाने-दाने की असली कीमत समझता है वैसे ही सूत कातनेवाले को एक-एक क्षण के महत्त्व का पता चलता है। "क्षणभर भी खाली न जाने दे" समर्थ की यह सूचना अथवा "क्षणार्ध भी व्यर्थ न खो" नारद का यह निदन जो कहता है वह सूत कातते हुए अक्षरशः ध्यान मे आता है। कर्म-योग का सामर्थ्य अद्भुत है, उसपर जितना जोर दिया जाय थोड़ा है। यह मात्रा अनेक रोगो पर लागू है, पर जिस रोग की उपाय-योजना इस समय जारी है उसपर उसका अद्भुत गुण अनुभव मे उतरा हुआ है।

: ४ :

कवि के गुण

एक सज्जन का सवाल है कि आजकल हमारे समाज में पहले की तरह कवि क्यों नहीं होते ? उत्तर, आजकल कवि के गुणों का अभाव है। वे गुण कौन-से हैं ? आइए, उनपर विचार करें।

कवि वह है जो अपने मन का स्वामी हो। जिसने मन पर विजय प्राप्त नहीं की वह ईश्वर की सृष्टि का रहस्य नहीं समझ सकता। काव्य क्या है ? सृष्टि का ही नाम काव्य है। जबतक मन को नहीं जीता, राग-द्वेष शान्त नहीं होते, तबतक मनुष्य इन्द्रियों का गुलाम ही बना रहता है। इन्द्रियों के गुलाम को ईश्वर की सृष्टि कैसे दिखाई देगी ? वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुख ही में उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विषय-सुख से परे है। जबतक इससे परे की सृष्टि का दर्शन नहीं होगा तबतक कवि बनना असम्भव है। सूरदास के चक्षु उनकी इच्छा के विरुद्ध विषयों की ओर दौड़ते थे। उनको फोड़कर अन्ध होने पर उन्हें काव्य का दर्शन हुआ। बालक ध्रुव के घोर तपश्चर्या द्वारा इन्द्रियों को वश में करने पर भगवान् ने अपने काव्यमय शंख से उनका कण्ठ स्पर्श किया और इस स्पर्श के होते ही उस अज्ञान बालक के मुख से साक्षात् वेदवाणी का रहस्य प्रकट करनेवाला अद्भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकाराम ने जब शरीर, इन्द्रिय और मन को पूर्ण रूप से भग किया तभी तो महाराष्ट्र को अभंग-वाणी का लाभ मिला। मनोनिग्रह के प्रयत्न में जब शरीर पर दीमकों का घर बन गया तभी उसमें से आदिकाव्य का उदय हुआ।

आज तो हम इन्द्रियो की सेवा के हाथ बिक गये है। यही सबब है कि हमारे समाज मे आज कवि पैदा नही होते।

समुद्र जैसे सब नदियो को अपने उदर मे स्थान देता है उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड को अपने प्रेम से ढकने की जितनी व्यापक बुद्धि कवि की होनी चाहिए। पत्थर मे ईश्वर के दर्शन करना काव्य का ही काम है। इसके लिए व्यापक प्रेम की आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैंसे की आवाज मे भी वेद श्रवण कर सके इसीलिए वह कवि है। वर्षा होने लगने पर मेढको को टर्राता देखकर वशिष्ठ को जान पडा कि परमात्मा की कृपा की वर्षा से कृतकृत्य हुए सत्पुरुष ही इन मेढको के रूप मे अपने आनन्दोद्गार प्रकट कर रहे है, और इसपर उन्होने भक्ति-भाव से मेढको की स्तुति की। यह ऋग्वेद मे 'मडूक-स्तुति' के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी प्रेम-वृत्ति का रग चढाकर कवि सृष्टि की ओर देखता है। तभी उसका हृदय सृष्टि-दर्शन से नाचता है। माता के हृदय मे अपनी संतान के प्रति प्रेम होने के कारण उसे देखकर उसके स्तनो मे दूध उमड पड़ता है। वैसे ही सकल चराचर सृष्टि के प्रति कवि का मन प्रेम से भरा होता है, इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणी से काव्य की धारा बह निकलती है। वह रोक नही पाता। हममे ऐसा व्यापक प्रेम नही। सृष्टि के प्रति उदार बुद्धि नही। पुत्र-कलत्र-गृहादि से परे हमारा प्रेम नही गया है। फिर 'वृक्ष, लता और बनचर हमारे कुटुम्बी है' यह काव्य हमे कहाँ से सूझे!

कवि को सारी सृष्टि को आत्मिक प्रेम से आच्छादित कर देना चाहिए। वैसे ही उसे सृष्टि के वैभव से अपनी आत्मा को सजाना चाहिए। वृक्ष, लता और वनचर मे उसे आत्म-दर्शन होना चाहिए। साथ ही, आत्मा मे वृक्ष, लता, वनचर का अनुभव करना भी आना चाहिए। विश्व आत्मरूप है इतना ही नही बल्कि आत्मा विश्वरूप है,

यह कवि को दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमा के चन्द्र से उसके हृदय-समुद्र मे ज्वार आना ही चाहिए, किन्तु पूर्णिमा के अभाव मे उसके हृदय मे भाटा न होना चाहिए। अमावास्या के गाढ़ अन्धकार मे आकाश के घनपटल से आच्छादित होने पर भी चन्द्रदर्शन का आनन्द उसे पाना चाहिए। जिसका आनन्द बाहरी जगत् मे मर्यादित है वह कवि नहीं है। कवि आत्मनिष्ठ होता है। कवि स्वयंभू होता है। पामर दुनिया विषय-सुख मे झूमती है, कवि आत्मानन्द मे डोलता है। लोग भोजन का आनन्द लेते हैं, कवि आनन्द का भोजन लेता है। कवि संयम का सयम है और तदर्थ स्वतन्त्रता की स्वतन्त्रता है। टेनिसन ने बहते झरने में आत्मा का अमरत्व देखा, कारण अमरत्व का बहता झरना उसे अपनी आत्मा मे दिखाई दिया था। कवि विश्व-सम्राट् होता है, कारण वह हृदय-सम्राट् होता है। कवि को जाग्रति में महाविष्णु की योगनिद्रा के स्वप्न सामने होते हैं, और स्वप्न मे जाग्रत नारायण की जगत्-रचना देखने को मिलती है। कवि के हृदय में सृष्टि का सारा वैभव एकत्र रहता है। हमारे हृदय मे भूख का ज्ञान भरा हुआ है और मुख में भीख की भाषा। जहाँ इतना ज्ञान भी अभी जाग्रत नहीं हुआ कि मैं स्वतन्त्र हूँ अथवा मनुष्य हूँ वहाँ आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभा की आशा नहीं की जा सकती।

यह सभी मानते हैं कि कवि में 'लोक हृदय को यथावत् संप्रकाशित' करने का सामर्थ्य होना चाहिए, किन्तु लोगों को इस बात का भान नहीं होता कि सत्य-निष्ठा इस सामर्थ्य का मूलाधार है। सत्यपूत वाणी से अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। "जो सत्य होगा वही बोलूँगा," इस नैष्ठिक सत्याचरण के फलस्वरूप ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि "जो बोलूँगा वही सत्य होगा।" भवभूति ने ऋषियों के काव्य-कौशल का वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोलते जाते और पीछे से उनके

अर्थ प्रवेश करता।" इसका कारण है ऋषि की सत्यनिष्ठा। "समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्"।—जो असत्य बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है अतएव मुझे असत्य नही बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद् में ऋषि ने ऐसी चिन्ता प्रदर्शित की है। जाज्वल्य सत्यनिष्ठा मे से काव्य का जन्म होता है। वाल्मीकि ने पहले रामायण लिखी थी, बाद को राम ने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्त्ति थे अतः राम को उनका काव्य सत्य करने को मजबूर होना पडा। और वाल्मीकि के राम भी कैसे थे—"द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।"—राम दुबारा बाण नहीं छोड़ते और न दो बात बोलते है। आदिकवि की काव्य-प्रतिभा को सत्य का आधार था। इसीसे उनके ललाट पर अमरत्व का लेख लिखा गया। सृष्टि के गूढ़ रहस्य अथवा समाज-हृदय की सूक्ष्म भावना व्यक्त कर दिखाने का सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करने की शक्ति एक प्रकार की सिद्धि है। कवि वाचा-सिद्ध होता है, कारण वह वाचा-शुद्ध होता है। हमारी वाचा शुद्ध नहीं है। असत्य को हम चला लेते है, इतना ही नही सत्य हमे चुभता है। ऐसी हमारी दीन दशा है। इसलिए कवि का उदय नही होता।

कवि की दृष्टि शाश्वत काल की ओर रहनी चाहिए। अनन्त काल की ओर नज़र हुए विना भवितव्यता पर का परदा नही हटता। प्रत्यक्ष से अन्ध हुई बुद्धि को सनातन सत्य गोचर नही होता। सुकरात को विष का प्याला पिलानेवाले तर्क को सुकरात मर्त्य दिखाई दिया। "मनुष्य मर्त्य है और सुकरात मनुष्य है, इसलिए सुकरात मर्त्य है।" इससे आगे की कल्पना उस टुटपुँजिए तर्क को न सूझी, लेकिन विष-प्राशन के दिन आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध मे प्रवचन करनेवाले सुकरात को परे का भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भवितव्यता के उदर मे सत्य की जय को छिपा हुआ वह देख रहा था। इस वजह से वह वर्तमान युग के विषय

में वैराग्य था। ऐसी उदासीन वृत्ति हृदय मे पैदा हुए बिना कवि-हृदय का निर्माण नहीं हो सकता। संसार में सब रस करुणरस के पैरो पर लोटनेवाले हैं, यह बात समाज के चित्त पर गड़ा देने का भवभूति ने बराबर प्रयत्न किया। पर तत्कालीन विषय-लोलुप उन्मत्त समाज को वह भाया या मनाया नहीं। उसने भवभूति को ही फेक दिया। पर कवि ने अपनी भाषा न छोडी। कारण शाश्वत काल पर उसे भरोसा था। शाश्वत काल पर नजर रखने की हमारी हिम्मत नहीं होती। चारों तरफ़ से घिरा हुआ दिल जैसे हताश होकर आस-पास देखना छोड़ देता है और बैठ जाता है घुटने मोडकर, वैसे ही हमारी विषय-मस्त बुद्धि को भावी काल को देख सकना असंभव हो जाता है। "को जाने कल की? आज जो मिले वह भोग लो" इस भीरु वृत्ति मे काव्य की आशा नहीं हो सकती।

ईशावास्योपनिषद् मे लिखित ब्रह्मपरक मन्त्र में यही अर्थ बताया गया है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

अर्थ—कवि (१) मन का स्वामी, (२) विश्व-प्रेम से भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत काल पर दृष्टि रखनेवाला होता है।

मनन के लिए निम्न अर्थ सुझाता हूँ—

(१) मन का स्वामित्व=ब्रह्मचर्य (२) विश्व-प्रेम=अहिंसा (३) आत्मनिष्ठता=अस्तेय (४) यथार्थभाषित्व=सत्य (५) शाश्वत काल पर दृष्टि=अपरिग्रह।

: ५ :

साक्षर या सार्थक

किसी आदमी के घर मे बहुत-सी शीशियाँ भरी धरी हो तो हमे ज़रूर ख़याल होगा कि यह आदमी प्रायः रोगी रहता होगा। पर किसी के घर मे बहुत-सी पोथियाँ पड़ी दीखे तो हम उसे सयाना समझेंगे। यह अन्याय नही है क्या? आरोग्य का यह पहला आदेश है कि लाइलाज हुए बिना शीशी का व्यवहार न करना। वैसे ही जहाँतक सम्भव हो पोथी मे आँखे न गडाना कहिए या आँखो मे पोथी न गडाना, यह सयानपन का पहला आदेश है। शीशी को हम रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी—फिर वह सासारिक पोथी हो, चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।

सदियाँ हो गयीं जिनके सयानपन की सुगन्ध आज भी दुनिया मे फैली हुई है उनका लक्ष्य जीवन को साक्षर करने के बजाय सार्थक करने की ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाज मे बिना ढूँढे मिल जायेंगे। इसके विपरीत निर-क्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहास ने देखे है। बहुत बार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षित इनके जीवन की तुलना करते हुए 'अक्षराणामकारोऽस्मि' गीता के इस वचन मे कहे अनु-सार 'सु' के बजाय 'अ' ही पसन्द करने लायक जान पडता है।

पुस्तक मे अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तक की सगति से जीवन को

सार्थक करने की आशा व्यर्थ है। "बातो की कढी और बातो का ही भात खाकर पेट भरा है किसीका" यह सवाल मार्मिक है। कवि के कथनानुसार पोथी का कुआँ डुबाता भी नहीं और पोथी की नैया तारती भी नहीं। 'अश्व' मानी 'घोडा' यह कोश मे लिखा है। बच्चों को लगता है 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में लिखा है। पर यह सच नहीं है। 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश के बाहर तबेले मे बँधा खड़ा है। उसका कोश में समाना सम्भव नहीं। 'अश्व' मानी 'घोडा' यह कोश का वाक्य इतना ही बतलाता है कि, "अश्व शब्द का वही अर्थ है जो घोडा शब्द का अर्थ है"। वह है क्या सो तबेले में जाकर देखो। कोश मे सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तक में अर्थ नहीं रहता। अर्थ सृष्टि मे रहता है। जब यह बात अक्ल मे आयेगी तभी सच्चे ज्ञान की चाट लगेगी।

जिसने जप की कल्पना ढूँढ़ निकाली उसका एक उद्देश था साक्षरत्व को संक्षिप्त रूप देना। जब साक्षरत्व को बिल्कुल ही भूँकते देखा तो उसके मुँह पर जप का टुकडा डाल दिया कि बेचारे का भूँकना बन्द हो जायगा और जीवन सार्थक करने के प्रयत्न को वक्त मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकि ने शतकोटि रामायण लिखी। उसे लूटने के लिए देव, दानव और मानव के बीच झगडा शुरू हुआ। झगडा मिटता न देखकर शंकरजी पंच चुने गये। उन्होंने तीनो को तेंतीस-तेंतीस करोड़ श्लोक बाँट दिये। एक करोड बचे। यों उत्तरोत्तर बाँटते-बाँटते अन्त में एक श्लोक बच रहा। रामायण के श्लोक अनुष्टुप् छंद के हैं। अनुष्टुप् छंद के अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजी ने उनमें से दस-दस अक्षर तीनों को बाँट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वह कौन-से? 'रा-म'। शंकरजी ने वह दोनों अक्षर बँटवारे की मजदूरी के नाम पर खुद ले लिये। शंकरजी ने अपना साक्षरत्व दो अक्षरों में खतम कर दिया; तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञान की बराबरी न कर सका। संतों ने भी

साहित्य का सारा सार राम नाम मे ला धरा है; पर इस अभागे पामर नर को यह नही सूझता।

संतो ने रामायण को दो अक्षरो मे समाप्त किया। ऋषियो ने वेदों को एक ही अक्षर मे ला लपेटा। साक्षर होने की हवस नही छूटती तो 'ॐ'कार का जप करो, बस। इतने से काम न चले तो उपनिषदो मे नन्हा माण्डूक्य-उपनिषद् पढ़ो। फिर भी वासना रह जाय तो दशोपनिषद् देखो। इस मतलब का एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद् मे आया है। उससे ऋषि का इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषि का यह कहना नहीं है कि एक अक्षर का भी जप करना ही चाहिए। एक वा अनेक अक्षर घोखने मे जीवन की सार्थकता नही है। वेदो के अक्षर पोथी मे मिलते हैं, अर्थ जीवन मे खोजना है। तुकाराम का कहना है कि उन्हे संस्कृत सीखे बिना ही वेदों का अर्थ आ गया था। इस कथन पर आजतक किसी ने आपत्ति नही की। शंकराचार्य ने आठवे वर्ष मे वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इससे एक शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने किसी गुरु से पूछा, "महाराज, आठ वर्ष की उम्र में आचार्य ने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया?" गुरु ने गभीरता से उत्तर दिया, "आचार्य की बुद्धि बचपन मे उतनी तीव्र नही थी, इसीसे उन्हे आठ वर्ष लगे।"

एक आदमी दवा खाते-खाते घबरा गया। क्योकि ज्यो-ज्यो दवा की मर्ज बढ़ता गया। अन्त में किसीकी सलाह से उसने खेत मे काम शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोडे ही दिनो मे हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभव से सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगो को बतलाने लगा। किसी के हाथ मे शीशी देखी कि बड़े जोश से कहता "शीशी से कुछ होने-जाने को नहीं; हाथ मे कुदाल लो तो चगे हो जाओगे।" लोग कहते,—"तुम शीशियाँ पी-पी कर तृप्त हो गये हो और हमे आये हो मना करने?" दुनिया का हाल ही यह है। दूसरे के अनुभव से सयानपन सीखने की

मनुष्य को इच्छा नहीं होती। उसे स्वतन्त्र अनुभव चाहिए, स्वतन्त्र ठोकर चाहिए। मैं कहता हूँ कि "पोथियों से कुछ फायदा नहीं है। फ़िजूल पोथियों में मत्था न मारो"; तो वह कहता है, "हाँ, तुम तो पोथियाँ पढ़ चुके हो और हमें उपदेश करने आये हो!" "हाँ, मैं पोथियाँ पढ़ चुका, पर तुमसे कहता हूँ तुम मत चूको।" वह कहता है "मुझे अनुभव चाहिए"—"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर खाने का स्वातन्त्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहास के अनुभवों से हम सबक नहीं लेते। इसीसे इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहास की कदर करें तो इतिहास से आगे बढ़ जायें। इतिहास की कीमत न लगाने से उसकी कीमत घटती जा रही है; पर जब इस ओर ध्यान जाय तब ठीक है।

: ६ क :

दो शर्तें

स्वराज्य का आन्दोलन अवतक प्रायः शहरो मे ही चलता था। पर अब धीरे-धीरे लोगो के ध्यान मे आने लगा है कि गॉव मे काम करना चाहिए। पर गावो मे जाने का मतलब है ग्रामीण बनना। शिक्षण किसलिए ? 'उत्तम नागरिक बनने को', ऐसा हम आजतक कहते आये हैं या अग्रेजी विद्या हमसे वैसा कहलाती रही है। पर 'नागरिक' उर्फ शहराती आदमी बनना, शिक्षण का यह सिद्धान्त स्वराज्य के काम मे नही आनेवाला है। यह बात ध्यान मे रखनी जरूरी है। हमे समझना चाहिए कि ग्रामीण बनने का शिक्षण ही सच्चा शिक्षण है। उसी की पाये पर स्वराज्य की इमारत बनेगी।

गॉव मे जाना चाहिए यह तो समझ मे आने लगा है, पर ग्रामीण बनना चाहिए यह आज भी मन मे बैठा नही है। यह वैसी ही बात है कि झोपड़ी मे तो जाना है पर ऊँट से उतरना नही है। अभी यह समझना बाकी है कि ऊँट से उतरे बिना झोपडी मे प्रवेश नही किया जा सकता। मैं गॉव मे जाना तो चाहता हूॅ और शहर का सारा ठाट साथ ले जाना चाहता हूॅं। इसका मतलब इतना ही है कि मै गॉव को शहर बनाना चाहता हूॅं। इसी मतलब से गॉव मे जाना हो तो न जाना ही अच्छा है। चाकरी की शर्त है 'शिव बनकर शिव को पूजना।' किसान की चाकरी करनी हो तो किसान बनकर ही की जा सकती है।

राष्ट्रीय शालाओं को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। नाजुक शहराती बनाने की हवस छोड़कर कडकड़ाते किसान तैयार करने का मन्सूबा बाँधना चाहिए। हमारे शिक्षित लोग अगर जरा श्रमपरायण हुए तो अंग्रेजों को वह अखरने लगेंगे, और वह जरूर उनके मार्ग मे अड़चन पैदा करेंगे। पर उससे डरने की जरूरत नहीं है। अंग्रेज कहेंगे, 'अंग्रेजी सीखो, नहीं तो अंधकार में पड़े रहोगे। अंग्रेजी सीख जाने से जग का ज्ञान तुम्हारी मुट्ठी में आ जायेगा।' हमें उनसे इतना ही कहना चाहिए कि "जग का ज्ञान कि जगने का ज्ञान, यह हमारे सामने पहला सवाल है। सारा जग हमारी मुर्दों मे गिनती करता है, इतना समझने भर ज्ञान हमें हो चुका है।" अंग्रेजी के ग्रहण से छूटना ही चाहिए। इसके बिना राष्ट्रीय शालाओं का तेज बढ़नेवाला नहीं है। अंग्रेजी-पढ़ा आदमी किसानों से बोल भी नहीं सकता, फिर किसान बनने की बात तो दरकिनार रही। उसकी और किसान की भाषा ही नहीं मिलती। किसानों से उसके मन में नफरत रहती है। गाँव मे रहना उसके लिए असम्भव है। इसके यह मानी नहीं है कि कोई भी अंग्रेजी न पढ़े। अंग्रेजी पढ़ने के लिए हम आज़ाद हैं। पर अंग्रेजी पढ़ने के लिए हमें मजबूर नहीं होना चाहिए। राष्ट्रीय शालाओं को अंग्रेजी सीखने की मजबूरी दूर कर देनी चाहिए और मजदूरी पर ज़ोर देना चाहिए। शारीरिक श्रम के बिना गाँव के काव्य का अनुभव नहीं हो सकता।

मराठी शाला में पढ़ते समय हमारे पाठ्यक्रम में 'सृष्टि-ज्ञान' के लिए एक पोथी नियत थी। 'सृष्टि-ज्ञान' के लिए भी पोथी! इस पोथी के सृष्टि-ज्ञान के बल पर हम जग को अनाड़ी कहने लगते हैं। और गाँव जाना भी है तो उन अनाड़ी किसानों को 'सिखाने जाना' है। हमें गाँवों में जाना चाहिए पर सीखने के लिए, सिखाने के लिए नहीं। हमारे ध्यान में यह बात नहीं आती कि गाँववालों को सिखानेलायक हमारे पास दो-

चार चीजें हैं तो उनसे सीखने की दस-बीस चीजे हैं। कारण, मदरसे के किताबी ज्ञान से हमारी निगाह धुँधली हो गयी है। जब हम मज़दूरी का महत्त्व समझ लेंगे तभी हमारा जाला कटेगा। और गाँव मे काम करने का तरीका भी सूझने लगेगा।

पर वर्त्तमान पद्धति के अनुसार तालीम पाये हुए बहुतेरे लोग देश-सेवा की उम्मीदवारी मे आते है। उनका क्या हो? मेरी समझ मे उनका उपयोग हमे ज़रूर कर लेना चाहिए। पर इस बीच मे उन्हे दो चीजे सिखा लेनी होगी—(१) अंग्रेज़ी विद्या की सिखायी हुई बातें भूल जाना, (२) शारीरिक श्रम की आदत डालना। ये दो बातें आ जाने पर हम उन्हे काम मे लगाये। 'हम काम के लिए तैयार हैं' ऐसा बहुतो ने मुझे सूचित किया है। उन सबको इन दो बातो के लिए तैयार होना चाहिए। आज अपने देश को हरएक मज़दूर की मज़दूरी की ज़रूरत है। जितने लोग आयें कम है।

: ६ ख :

फ़ायदा क्या है ?

कहते हैं, रेखागणित की रचना पहले-पहल यूक्लिड ने की। वह ग्रीस देश का अधिवासी था। उसके समय मे ग्रीस के सब शिक्षितो के दिमाग राजनीति से विकृत हो रहे थे—या यो कहिए कि दिमागो मे राजनीति का गोबर भरा हुआ था। इस वजह से रेखागणित के कद्रदाँ दुर्लभ थे और यूक्लिड तो रेखागणित पर मुग्ध था। फिर भी जैसे चरखे पर मुग्ध एक मानव ने भी बहुतेरे चतुरो को चक्कर मे डाल दिया, वैसे ही यूक्लिड ने भी बहुतेरे राजनीतिज्ञो को रेखाएँ खींचने में लगा दिया था। रोज़ यूक्लिड के घर पर रेखागणित के शिक्षार्थियो का जमघट लगता था। यूक्लिड उन्हे अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता था।

बहुतेरे राजनीतिज्ञो को यूक्लिड के पीछे पड़े देख एक राजा के मनमें आया, 'चलें हम भी देखें, कुछ फायदा होगा।' वह हफ्ते भर यूक्लिड के पास रेखागणित सीखने गया। अंत में उसने यूक्लिड से पूछा, "मुझे सात दिन रेखागणित सीखते हो गये; पर यह न समझ में आया कि इससे फायदा क्या है?" यूक्लिड ने गम्भीरतापूर्वक अपने एक शिष्य से कहा, "सुनो जी, इन्हें चार आने रोज के हिसाब मे सात दिन के पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजा की ओर मुखातिब होकर कहा, "तुम्हारा इस हफ्ते का काम पूरा हो गया है, कल मे तुम और कहीं काम ढूँढो।" क्या वह नाहक राजा बनने के बजाय पौने दो रुपये पल्ले पड़ने से खुश हुआ होगा? हम लोगों की मनोवृत्ति उस ग्रीक राजा की-सी बन गयी है।

फ़ायदा ढूँढने की आदत

हर बात मे फ़ायदा तलाशने की बहुतो को आदत पड गयी है। सूत कातने से क्या फायदा है, इससे लेकर स्वराज्य हासिल होनेतक के फ़ायदे के बारे मे खचियो सवाल होते है। यह फ़ायदावादी समुदाय अपनी फ़ायदेवाली अक्ल को ज़रा और आगे हॉक ले जाय तो तत्त्वज्ञान की ठेठ चोटीपर पहुॅच जायगा। तब प्रश्न का रूप बनेगा—'फ़ायदे से भी क्या फ़ायदा है?' एक लड़का अपने बाप से कहता है, "बाबूजी, गाय-भैस का फ़ायदा तो समझ मे आता है कि उनसे हमे रोज़ दूध पीने को मिलता है; लेकिन कहिए तो इन बाघ-बघेरो और सॉपो के होने से क्या फायदा है?" बाप जवाब देता है, "समूची सृष्टि मनुष्य के फ़ायदे के लिए ही है, इस बेकार की गलतफ़हमी मे हम न रह जायॅ, यही इनका फायदा है।"

कालिदास ने एक जगह मनुष्य को 'उत्सव-प्रिय' कहा है। (कालिदास का मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान गहरा था और इसीसे वह कवि कहलाने के अधिकारी हुए।) सबका अनुभव है कि मनुष्य को उत्सव प्रिय है लेकिन वह क्यो प्रिय है? पाठशाला के लड़को को रविवार की छुट्टी क्यो प्यारी लगती है? छः दिन दीवारो के घेरे मे बन्द-बन्द घुटने के बाद रविवार को जरा स्वच्छन्दता से सॉस ले पाने की वजह से। मनुष्य को उत्सव प्यारा क्यो है, इसका भी उत्तर ऐसा ही है। दुःखो से दबा हुआ हृदय उत्सव मे हलका—मस्त—उड़नेवाला बन जाता है। हमारे घर अट्ठारह बिस्वे दारिद्र्य होने की वजह से ही लड़के की शादी रचने पर हम जेवनार मे अट्ठारह दूना छत्तीस व्यजन बनाना नही भूलते। मतलब कहने का यह है मनुष्य उत्सव-प्रिय है, यह उसके जीवन के दुखःमय होने का सबूत है। और इसी उदाहरण के अनुसार आज हमारी बुद्धि सिर्फ़ फायदावादी बन गयी है। यह हमारे राष्ट्र के महान् बौद्धिक दिवालियेपन का सबूत है।

इसका कुपरिणाम

यह बान पड़ जाने के कारण हमारे समाज मे साहस का अभाव होने लग गया; और इसकी वजह से ब्राह्मणवृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति छिछली हो रही है। ब्राह्मण मानो साहस की साक्षात् प्रतिमा। मृत्यु के परले पार की खोज लेने के निमित्त जीवन की आहुति देनेवाला ब्राह्मण कहलायेगा। फायदा कहेगा, "मौत के बाद की बात किसने देखी है? हाथ का घडा पटककर बादल का भरोसा क्यों करें?" फ़ायदे के कोश मे साहस शब्द मिलना कठिन है। और मिल गया तो अर्थ उसका लिखा मिलेगा 'मूर्खता!' फायदे के कोश से जीवन-गीता की संगति बिठायी जाय तो फल-त्याग की अपेक्षा त्याग का फल क्या है, यह प्रश्न पैदा हो जायेगा। ऐसी स्थिति मे सच्ची ब्राह्मणवृत्ति के लिए ठौर कहाँ रहेगा? "त्याग करना, साहस करना, यह सब ठीक है" फ़ायदावादी कहता है—"पर त्याग के लिए ही त्याग करने को कहते हो?" "न, त्याग के लिए त्याग नहीं कहता—फ़ायदे के लिए त्याग मान लीजिए।" "पर वह फ़ायदा कब मिलना चाहिए, इसकी कोई मीयाद तय होनी चाहिए न?" "तुम्हारा है कोई कायदा कि फ़ायदा कितने दिन में मिलना चाहिए?" वह झट कहेगा—"त्याग के दो दिन पहले मिल जाय तो बस।" समर्थ गुरु रामदास ने "लोगों के लालची स्वभाव का वर्णन करते हुए, कार्यारम्भ में देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए", इस कथन का अर्थ फायदे के कोश के अनुसार किया है—"कार्यारम्भे देव, अर्थात् काम के शुरू में कुछ तो देव (दो)।" साराश, फल ही देव है और वह काम करने के पूर्व मिलना चाहिए। इसका नाम है नाफ़ायदा तत्त्वज्ञान! जहाँ (बेचारे) देव (ईश्वर) की यह दशा है वहाँ ब्राह्मणवृत्ति की बात को कौन पूछता है?

परलोक के लिए इस लोक को छोड़नेवाला साहस तो सरासर पागलपन है, इसलिए उसका तो विचार ही बेफ़ायदा है। इससे उतरकर

: ७ :

गीता-जयन्ती

कुरुक्षेत्र की रणभूमिपर अर्जुन को गीता का उपदेश मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को दिया गया था, यह विद्वानो ने माना है। इसे सही मानकर चलने मे कोई हर्ज नहीं है। इससे 'मासानां मार्गशीर्षोऽहं'—महीनों में मार्गशीर्ष महीना मेरी विभूति है, इस वचन को विशेषता मिलती है। उस दिन हिन्दुस्तान भर में सर्वत्र गीता का स्वाध्याय—प्रवचन होने का प्रस्ताव है।

प्रस्ताव उचित है। पर यह न भूलें कि गीता-धर्म का प्रचार केवल प्रवचन और श्रवण से न होगा। गीता ज़ुबानी जमा-ख़र्च का शास्त्र नहीं, किंतु आचरण-शास्त्र है। उसका प्रचार आचरण बिना और किसी तरह भी नहीं होने का। गीता का धर्म एक खुला धर्म है। किसी के लिए उसके सुनने की मनाही नहीं। स्त्री, वैश्य, शूद्र, जिनमें वेद के गहरे कुएँ में से पानी निकालने की शक्ति नहीं है, उनके लिए गीता के बहते झरने से मनमाना पानी पाने की सुविधा है। गीतामैया के यहाँ छोटे-बड़े का भेद नहीं है; बल्कि खरे-खोटे का भेद है। जिसकी तपश्चर्या करने की तैयारी नहीं है, जिसके हृदय में भक्ति का प्रवाह नहीं, सुनने की जिसकी तीव्र इच्छा नहीं, अथवा जिसकी बुद्धि में निर्मत्सर भाव नहीं, उसके सामने यह रहस्य भूलकर भी प्रकट मत करना—भगवान ने अर्जुन को यह आदेश दिया है।

गीता के प्रचार के मानी हैं निष्काम कर्म का प्रचार। गीता के प्रचार के मानी हैं भक्ति का प्रचार, गीता के प्रचार के मानी है त्याग का प्रचार। यह प्रचार पहले अपनी आत्मा मे होना चाहिए। जिस दिन उससे आत्मा भरपूर हो जायगी उस दिन वह दुनिया मे फैले बिना न रहेगा। गीता पर आजतक हिन्दुस्तान मे प्रवचनो की कमी नही रही है। तरह-तरह की टीकाएँ भी लिखी गयी है। गीता के तात्पर्य के सम्बन्ध मे समाचार-पत्र वगैरह मे पुराने, नये शास्त्री-पण्डितो का वाद-विवाद भी काफी हुआ है। पर अनुभव से यह नही जान पड़ता कि इनकी वजह से साक्षात् निष्काम कर्म को कुछ उत्तेजन मिला हो। उलटे, उनसे रजोगुण की मात्रा का ज़ोर बढ़ा है। मनभर चर्चा की अपेक्षा कन-भर अर्चा श्रेष्ठ है। 'उठ भोर राम का चिंतन कीजे' इस वाक्य के लिखनेवाले का उद्देश यह नही है कि लोग बैठकर इसे घोखे, बल्कि यह है कि प्रातःकाल उठकर राम का चिंतन करे।

गीता का रहस्य गीता की पोथी मे छिपा हुआ नहीं है। वह तो खुला हुआ है। भगवान् खुद ही कहते हैं कि मैने उसे सूर्य से कहा है। इतना साफ है कि जिसके आँखें हों वह देख सकता है। और यदि छिपा हुआ ही है तो गीता की पोथी मे तो निश्चय ही नहीं छिपा है। वह हृदय की गुफा मे छिपा है। इस गुफा का मुँह पाप के पत्थर डालकर बन्द कर दिया गया है। उन्हे हटाकर अन्दर देखना चाहिए। उसके लिए मेहनत करनी पड़ेगी। गीता 'कुरु' क्षेत्र में कही गयी है। सस्कृत मे 'कुरु' का अर्थ है कर्म कर। कुरुक्षेत्र मानी कर्म की भूमि। इस कर्म की भूमिका पर गीता कही गयी है। और वहीं उसे मेहनत के कानों से सुनना है।

बहुतरो की समझ है कि मिशनरी लोग जैसे बायविल की प्रतियाँ मुफ्त बॉटते हैं, उसपर व्याख्यान देते फिरते है, कोई सुने न सुने अपना

राग अलापे जाते हैं, वैसे ही हम गीता के बारे में करें तो हमारे धर्म का प्रचार होगा। पर यह कोरा वहम है। मिशनरियों ने जो बहुत ही थोड़ा-सा सच्चा धर्म-प्रचार किया है वह उनमें के कुछ सज्जनों की सेवा का फल है। बाकी के उनके धर्म-प्रचार को तो दंभ ही कहना चाहिए। पर इस दंभ से उनके काम को नुकसान पहुँचा है। उनके अनुकरण से हमारा कोई लाभ नहीं होगा।

अतः गीता-जयंती के दिन गीता के प्रचार की बाहरी कल्पना पर ज़ोर न देकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हाथ से कुछ भी निष्काम सेवा बने। साथ ही, भक्तियुक्त चित्त से यथाशक्ति गीता का थोड़ा-सा पाठ करना भी उपयुक्त है।

: ८ :

पुराना रोग

अस्पृश्यता के पक्षपातियो की एक दलील है कि यह पुरातन काल से चली आयी है। पर यह भी कोई दलील है। माना कि 'पुरानी पूजी' की रक्षा करनी चाहिए। पर रक्षा मे बढ़ाना, जीर्णोद्धार करना वगैरह कई बाते शामिल है। पुराना घर प्यारा होने से क्या उसमे के चूहो और छछूदरो के बिल भी प्यारे होगे? पेट की सन्तान प्यारी होने से क्या पेट का रोग भी प्यारा होगा? और उसमें भी पुराना रोग? फिर उसका इलाज क्या कराना है? जीर्णोद्धार मे भी बाधा देनेवाली इस जीर्ण-भक्ति को क्या कहा जाय? साक्षात् उपनिषद के ऋषियो ने स्पष्ट आज्ञा दी है, **"यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।"** —हमारे जो अच्छे काम है उनका अनुकरण करो, दूसरे कामो का नही। हम अपनी विवेकबुद्धि से इस्तीफ़ा देकर साफ़ तौर से उनकी आज्ञा-भंग करते हैं और उलटे मानते हैं कि हम उनकी आज्ञा पालते हैं। यह आत्मवंचना नही तो क्या है?

इसमे भी 'भूत को भागवत का आधार' मिलनेवाली बात होने पर तो आत्मवचना की हद हो जाती है। अस्पृश्यता के लिए आधार लिया जाता है आदि शंकराचार्य का! अद्वैत के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना जिसकी ज़िन्दगी का मक्सद था वह इस अमंगल भेदभाव-भ्रम का आधार बनाया जाता है। कैसा अचरज है! सतो का आधार लेना ही हो तो उनके उत्तरचरित्र से लिया जाता है, पूर्वचरित्र मे से नहीं लिया

जाता। शंकराचार्य के चरित्र में जो चांडाल की कथा है वह उनके पूर्व-चरित्र की है। उस आधार पर अगर अस्पृश्यता मान्य ठहरायी जाय तो वाल्मीकि के (पूर्वचरित्र के) आधार पर ब्रह्महत्या भी मान्य ठहरेगी। और फिर क्या अमान्य रह जायगा? कारण, साधु हुआ तो भी साधुत्व की योग्यता प्राप्त होने के पूर्व तो वह साधु नहीं ही होता। उस समय के उसके चरित्र में सब कुछ मिल जायगा। इसीलिए कहावत है, "ऋषि का कुल मत देखो।" देखना ही हो तो उसका उत्तरचरित्र देखना चाहिए, और सो भी विवेक साथ रखकर।" पूर्वचरित्र देखने से क्या लाभ?

आचार्य के चरित्र में चांडाल की कहानी यों है—आचार्य एक बार काशी जा रहे थे और उसी रास्ते पर एक 'चांडाल' चल रहा था। उन्होंने उसे हट जाने को कहा। तब चांडाल ने उनसे पूछा—"महाराज, अपने अन्नमय शरीर से मेरे अन्नमय शरीर को आप परे हटाना चाहते हैं या अपने में स्थित चैतन्य से मेरे अन्दर के चैतन्य को? शरीर किसीका हो, वह स्पष्टतः 'गंदगी का गढ़ा' है। और आत्मा तो सर्वत्र एक और अत्यन्त शुद्ध है। ऐसी स्थिति में अस्पृश्य कौन है और किसके लिए?" यह उस सवाल का मतलब है। पर इतना कहकर ही वह चांडाल चुप नहीं हुआ। उसने फटकार आगे बढ़ायी, "गंगाजल के चन्द्रमा और हमारे हौज़ के चन्द्रमा में कुछ अन्तर है? सोने के कलशे के आकाश में और हमारे मिट्टी के घड़े के आकाश में कुछ फ़र्क़ है? सर्वत्र आत्मा एक ही है न? फिर यह ब्राह्मण और अंत्यज का भेद-भ्रम आप कहाँ से निकाल लाये?"—"विप्रोऽयं श्वपचोयऽमित्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः।" इतनी फटकार सुनकर आचार्य के कान ही नहीं आँखें भी खुल गयीं और नम्रता से उसे नमस्कार करके वह बोले, "आप सरीखे मनुष्य, फिर चाहे वह चांडाल हों या ब्राह्मण, मेरे लिए गुरुस्थानीय हैं।"—

"चांडालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तुगुरुरित्येषा मनीषा मम ।" इस बातचीत से जो अनुमान पाठक निकालना चाहे निकाल ले।

जिस रास्ते अपने बड़े-बड़े गये उस रास्ते हमें जाना चाहिए, यह मनु ने भी कहा है। पर वह 'सन्मार्ग' हो तो, यह उन्हीं का बताया हुआ अपवाद है। वह श्लोक देकर यहाँ समाप्त करता हूँ।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् "सतां मार्गं" तेन गच्छन् न रिष्यति॥

: ६ :

श्रवण और कीर्तन

प्रह्लाद ने नौ प्रकार की भक्ति कही है। उनमें भक्ति के दो प्रकार श्रवण और कीर्तन को बिल्कुल आरंभ में रखा है। भक्ति-मार्ग में श्रवण-कीर्तन की बडी महिमा गायी गयी है। सुनी हुई वस्तु को बार-बार सुनना, कही हुई ही बात को बार-बार कहना भक्तों की रीति है। तीनों लोक में विचरना और बराबर बोलते रहना नारद-सरीखों का तो जन्म का धन्धा है। उच्चवर्ग के लोगो में, मध्यमवर्ग के लोगो में, निचले-वर्ग के लोगों मे—तीनो मे ही नारदजी की फेरी होती है और बराबर कीर्तन चलता है। कीर्तन का विषय एक ही है। वही भक्तवत्सल प्रभु; वही पतित-पावन नाम। दूसरा विषय नही, दूसरी भाषा नही। वही गाना, वही रोना, वही कहना, वही चिल्लाना। न आलस्य है, न परेशानी; न थकावट है, न विश्राम; गाते-गाते फिरना और फिरते-फिरते गाना।

जैसे नारद-सरीखों के लिए निरन्तर गाना है, वैसे धर्मराज-सरीखों के लिए सतत सुनना। महाभारत के वनपर्व और शांतिपर्व यह दोनों विशाल पर्व धर्मराज की श्रवण-भक्ति के फल हैं। वनवास मे रहते समय जो कोई ऋषि मिलने आता उसकी धर्मराज खुशामद करते। भक्ति-भाव से प्रणि-पात करके जो सेवा बनती करते और जहाँ ऋषि ने कुशल-प्रश्न किया कि अपनी करुण-कहानी कहने का निमित्त बनाकर लगते प्रश्न पूछने, "महा-राज, द्रौपदी पर आज जैसा संकट है वैसा आजतक कभी किसीपर पड़ा था क्या?" वह कहते, "क्या पूछते हैं यह आप? बड़ो-बड़ों ने जो कष्ट सहे हैं उनके मुकाबले में तो द्रौपदी का और आपका कष्ट किसी गिनती मे नहीं है।" फिर यह पूछते, "सो कैसे?" इतना सहारा पा जाने से

बाद ऋषि का व्याख्यान चलता। सारी राम-कथा अथ से इतितक वह कहते और यह प्रेम लगाकर सुनते। दूसरे किसी अवसर पर ऐसे ही कोई ऋषि आकर नल-दमयन्ती का नाम ले लेते तो धर्मराज फौरन सवाल करते, "वह क्या कथा है ?" अब राम की सीता कौन थीं और नल-दमयन्ती की कथा क्या है, इतिहास का इतना अज्ञान धर्मराज मे होना कैसे माना जा सकता है ? पर जानी हुई कथा भी सतो के मुख से सुनने मे एक विशेष स्वाद होता है। इसके सिवा वही वस्तु बारम्बार सुनने से विचार दृढ़ होता है। इसीलिए धर्मराज ऐसे श्रवण-प्रेमी बन गये थे।

पर पुरानी बात जाने दीजिए। बिल्कुल इस ज़माने का उदाहरण लीजिए। नारद की तरह ही तुकाराम महाराज ने अन्तिम घडीतक कीर्तन-भक्ति जारी रखी। रोज रात को भगवान् के मन्दिर मे जाकर कीर्तन करने का उनका क्रम आमरण अबाधित रूप से चला। लोग जायॅ, न जायॅ, भगवान् के सामने कीर्तन तो होगा ही। समाज की बिल्कुल निचली श्रेणी से लेकर ठेठ ऊपर की श्रेणी तक सबको तुकाराम महाराज ने भगवान् का नाम सुनाया। घर मे, मन्दिर मे, घाट मे, बाट मे, सर्वत्र वही एक-सा सुर। स्त्री को, लडकी को, भाई को, जमाई को, गॉव के मुखिया को, देश के शासक को, शिवाजी महाराज को, रामेश्वर भट्ट को, अंबाजी बुवा को—सबको तुकाराम महाराज ने हरिनाम का एक ही उपदेश किया और आज भी उनकी अभग वाणी वही काम अव्याहत रूप से कर रही है।

इधर के इतिहास मे जैसे हमे तुकाराम-सरीखे 'सदा बोलते' भक्ति के स्रोत मिलते है, वैसे ही उस स्रोत से पानी लेजाकर धर्म-क्षेत्र की बागबानी करनेवाले शिवाजी-जैसे श्रवण-दक्ष किसान भी देखने को मिलते है। पच्चीस-पच्चीस मील की दूरी तक कीर्तन सुनने के लिए बराबर दौड़ते जाना उनका नियम था। और जो कुछ सुनना वह आलस-वालस झाड़कर जी

लगाकर सुनना, और जैसा सुनना उसके अनुसार आचरण करने का बराबर प्रयत्न करना, इसीको श्रवण कहना चाहिए। शिवाजी महाराज ने सतत श्रवण किया। कोई सत्पुरुष मिल जाते तो उनसे सुनने का मौका उन्होंने कभी हाथ से नहीं जाने दिया। अतएव सब उद्योगों में लगाने के बाद भी बच रहे इतनी स्फूर्त्ति का खज़ाना उनके हृदय मे जमा था।

भक्ति-मार्ग मे जिसे श्रवण-भक्ति और कीर्तन-भक्ति कहते हैं उसी को उपनिषद मे स्वाध्याय और प्रवचन नाम दिया है। नाम भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही है। स्वाध्याय के मानी हैं सीखना और प्रवचन के मानी सिखाना। इस सीखने और सिखाने पर उपनिषदों का उतना ही जोर है जितना 'श्रवण और कीर्तन पर' संतों का। "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।"—सच बोल, धर्म पर चल और स्वाध्याय से मत चूक, इन तीन सूत्रों मे ऋषि की सारी सिखावन आगयी। स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात् सीखने-सिखाने का महत्त्व ऋषियों की दृष्टि में इतना ज्यादा था कि मनुष्य के लिए नित्य आचरण करने योग्य धर्म के तत्त्व बतलाते हुए उन्होंने प्रत्येक तत्त्व के साथ स्वाध्याय-प्रवचन का पुनः पुनः उल्लेख किया है। 'सत्य और स्वाध्याय-प्रवचन,' 'तप और स्वाध्याय-प्रवचन', 'इन्द्रिय-दमन और स्वाध्याय-प्रवचन', इस प्रकार प्रत्येक कर्त्तव्य को अलग-अलग कहकर हरबार स्वाध्याय-प्रवचन का हेतु और विषय तो बतलाया ही, साथ ही उसका महत्त्व भी बता दिया है।

हमारा स्वराज्य-आन्दोलन अत्यन्त व्यापक और गंभीर आन्दोलन है। एक ओर तीस* करोड़ लोगों से—मानवप्रजा के एक पंचमांश से सम्बन्ध रखनेवाला होने के कारण विशाल है, और दूसरी ओर आत्मा को स्पर्श करनेवाला होने के कारण गभीर है।

---

* १९४१ की जनगणना से भारतवर्ष की जनसंख्या ३८ करोड़ ८८ लाख निकली है।

इस कथन में संकुचित दृष्टि समझी जायगी कि तीस करोड़ आदमियो से ही इस आन्दोलन का सम्बन्ध है। व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि सारे मानव-जगत् की भवितव्यता इस आन्दोलन से सम्बन्धित है। पैर का नन्हा-सा कॉटा निकालना सिर्फ पॉव का सवाल नहीं होता। सारे शरीर का सम्बन्ध उससे रहता है। फिर बिगड़े हुए कलेजे को सुधारने का सवाल सारे शरीर को सुधारने का सवाल कैसे न होगा ? अवश्य यह सारे शरीर का सवाल है। और कोई आसान सवाल नही है, जीने-मरने का सवाल है—'यक्ष-प्रश्न' है। जवाब दो, नही तो जान दो, इस तरह का सवाल है। काल की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन, लोक-सख्या के हिसाब से जगत् के पॉचवे हिस्से के बराबर, विस्तार की दृष्टि से रूस को छोडकर पूरे यूरोप के बराबर, संस्कृति मे उदार, उच्च, अद्भुत, प्राकृतिक सम्पत्ति मे जगत् के लिए लालच की वस्तु, हिन्दू और बौद्ध इन दो विश्व-व्यापक धर्मों को जन्म देनेवाली और इस्लाम का विस्तार-क्षेत्र बनी हुई, वाङ्मय-वैभव मे अद्वितीय यह भारत-भूमि ब्रिटिश-साम्राज्य के मुकुट का हीरा ही नही बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य की निगली हुई हीरे की कनी है—इसके जीवन-मरण पर दुनिया का भाग्य अवलम्बित है। इसलिए आज के हमारे स्वराज्य-आन्दोलन का सम्बन्ध सिर्फ ३० करोड़ भारतीय जनता से न होकर सारे जगत् से है। और दूसरी ओर यह आन्दोलन आत्मा को स्पर्श करनेवाला है, यह कहने से उसकी सच्ची गभीरता की कल्पना नही होती। स्वराज्य का आन्दोलन आत्म-शुद्धि करनेवाला है। और आत्म-शुद्धि का वेग साक्षात् परमात्मा से भेंट किये बगैर थमनेवाला नही। इसलिए परमात्मा को दुनिया के क्षेत्र से गुणा करने पर इस आन्दोलन का घनफल निकलेगा।

आन्दोलन इतना विशाल और गभीर होने की वजह से उसकी सिद्धि के लिए दो बातो की फिक्र रखना जरूरी है। एक तो उसे किसी खूॅटे से कसकर बॉध देना चाहिए, नही तो वह हाथ से निकल भागेगा।

दूसरे उसके तत्त्वों का श्रवण-कीर्तन जारी रखना चाहिए।

इनमें आन्दोलन का खूँटा अब निश्चित होगया है। चरखा हमारे सारे आन्दोलन का खूँटा है। इसके चारो ओर आन्दोलन का चक्र फिराते रहना चाहिए। सुविधा और आवश्यकतानुसार कछुआ अपने अंग कभी अपने मजबूत कवच के अन्दर खींच लेता है और कभी बाहर फैला देता है। वैसे ही चरखे का मजबूत खूँटा कायम करके उसके आश्रय में हम आन्दोलन के दूसरे अवयवों को कभी बाहर पसारते, कभी भीतर बटोरते चलेंगे। पर कभी इस चरखे के खूँटे को छोड़ना नहीं होगा। ब्रह्म 'सर्वगत सदासम' है, इसीलिए कोई यह नहीं कह सकता कि वह कब निकल भागेगा। इसलिए उस ब्रह्म को किसी मूर्ति में क़ैद किये बिना भक्त का काम नहीं चलता। वैसे ही आन्दोलन विश्वव्यापी हुआ कि कुछ हाथ नहीं लगता। इसीलिए उस आन्दोलन की चरखे में प्राण-प्रतिष्ठा है और कुछ हो या न हो, इस मूर्ति की पूजा में कभी चूक नहीं होनी चाहिए।

और इतने ही महत्त्व की दूसरी बात है आन्दोलन के तत्त्वों के सबके कानों पर बराबर पड़ते रहने की व्यवस्था। वास्तव में ये दोनों बातें अलग-अलग नहीं हैं। एक ही बात के दो अंग हैं। कीर्तन करना हो तो सामने मूर्ति का होना ज़रूरी है। देवता की मूर्ति के बिना कीर्तन नहीं हो सकता। गंगा का पानी समुद्र की ओर जाता है तो तीर पर के वृक्षों का पोषण करता जाता है। पर जाता है समुद्र की ओर ही। वैसे ही कीर्तन की धारा बहती है भगवान् के सम्मुख ही। सुननेवाले तीर पर के वृक्षों के समान हैं। स्वराज्य के आन्दोलन की स्थापना चरखे की मूर्ति में करनी और उस मूर्ति के सामने अखंड कीर्तन की जय-जयकार जारी रखनी है। यह भजन-कार्य हरएक शहर में, हरएक गाँव में, हरएक घर में शुरू होना चाहिए। कीर्तन की गुंजार से दुनिया को गुँजा देना चाहिए। यह हम कर पायें तो यह बड़ी बात है कि एक क्षण में राष्ट्र की काया पलट हो जाय।

: १० :

रोज़ की प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

हे प्रभो, मुझे असत्य मे से सत्य मे ले जा। अन्धकार मे से प्रकाश मे ले जा। मृत्यु मे से अमृत मे ले जा।

इस मत्र मे हम कहाँ हैं, अर्थात् हमारा जीवस्वरूप क्या है, और हमे कहाँ जाना है, अर्थात् हमारा शिवस्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्य मे है, अन्धकार मे हैं, मृत्यु मे हैं। यह हमारा जीवस्वरूप है। हमे सत्य की ओर जाना है, प्रकाश की ओर जाना है, अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिवस्वरूप है।

दोनो विन्दु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव ये दोनो विन्दु तय हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्त के लिए परमार्थ-मार्ग नही है, कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव-स्वरूप का एक ही विन्दु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड़ के लिए परमार्थ-मार्ग नही है। कारण, उसे शिव-स्वरूप का भान नहीं है। जीव-स्वरूप का एक ही विन्दु नजर के सामने है, इसलिए मार्ग आरभ ही नही होता। मार्ग बीचवाले लोगो के लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है। और उन्हींके लिए इस मन्त्रवाली प्रार्थना है।

'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' ईश्वर से यह प्रार्थना करने के मानी हैं 'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का बराबर प्रयत्न करूँगा', इस तरह की एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्न-सहित प्रतिज्ञा जिस प्रार्थना के साथ न हो उसका कोई अर्थ ही नहीं है। यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूँ, अथवा विरुद्ध दिशा में जाता हूँ, और ज़बान से 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' यह प्रार्थना किया करता हूँ, तो इससे क्या मिलने का? नागपुर से कलकत्ते की ओर जानेवाली गाड़ी में बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बम्बई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फायदा होना है? असत्य में से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना करनी हो तो असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करने में यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्य से सत्य की ओर करूँगा और अपनी शक्तिभर सत्य की ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूँगा।

प्रयत्न ही करना है तो फिर प्रार्थना क्या? प्रयत्न करना है इसीलिए तो प्रार्थना ज़रूरी है। मैं प्रयत्न करनेवाला हूँ। पर फल मेरी मुट्ठी में थोड़े ही है। फल तो ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूँगा? मेरी शक्ति कितनी अल्प है! ईश्वर की सहायता के बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूँ? मैं अगर सत्य की ओर अपने कदम बढ़ाता रहूँ तो भी ईश्वर की कृपा के बिना मैं मंज़िल पर नहीं पहुँच सकता। मैं रास्ता काटने का प्रयत्न तो करता हूँ, पर अन्त में मैं रास्ता काटूँगा कि बीच में मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है? इसलिए अपने ही बल-बूते मैं मंज़िल पर पहुँच जाऊँगा, यह घमण्ड फ़िज़ूल है। काम का अधिकार मेरा है; पर फल ईश्वर के हाथ में है। इसलिए प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर की प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के संयोग से हमें बल मिलता है। प्रार्थना का मतलब तो यही है न कि हमारे पास

जितना ज़ोर है सब लगाने के बाद ईश्वर से मॉगते हैं कि और जोर दे।

प्रार्थना मे दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दैववाद मे पुरुषार्थ को अवकाश नही है। इससे वह बावला है। प्रयत्नवाद मे निरहंकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमण्डी है। दोनो एक जगह नही मिलाये जा सकते। और फिर दोनो को छोडा भी नहीं जा सकता। कारण, दैववाद मे जो नम्रता है वह ज़रूरी है। प्रयत्नवाद मे जो पराक्रम है वह भी ज़रूरी है। प्रार्थना इनका मेल साधती है। 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः' गीता मे सात्त्विक कर्ता का यह जो लक्षण कहा गया है उसमे प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना मानी अहकार-रहित प्रयत्न। साराश, 'मुझे असत्य मे से सत्य मे ले जा' इस प्रार्थना का सपूर्ण अर्थ होगा कि 'मै असत्य मे से सत्य की ओर जाने का अहकार छोडकर उत्साहपूर्वक बराबर प्रयत्न करूँगा।' यह अर्थ ध्यान मे रखकर हमे रोज़ प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो, तू मुझे असत्य मे से सत्य मे ले जा। अंधकार में से प्रकाश मे ले जा। मृत्यु मे से अमृत मे ले जा।

: १९ :

तुलसीकृत रामायण

तुलसीकृत रामायण का सारे हिन्दुस्तान के साहित्यिक इतिहास में एक निराला स्थान है। राष्ट्रीय दृष्टि से भी उसका स्थान अद्वितीय है। साथ-साथ वह हिन्दुस्तान के सात-आठ करोड़ लोगों के लिए वेद-तुल्य प्रमाण-मान्य है। नित्य के व्यवहार-योग्य और धर्म-जाग्रति का एकमात्र आधार है; इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी वह बेजोड़ कही जा सकती है। राम-भक्ति का प्रचार करने में *'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्'* इस न्याय से वह अपने गुरु वाल्मीकि-रामायण को भी पराजय का आनन्द देनेवाली है और इसीलिए भक्तिमार्गीय दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपना सानी नहीं रखता। राम-रावण का युद्ध जिस तरह राम-रावण के युद्ध-जैसा था उसी तरह तुलसी-रामायण तुलसी-रामायण-जैसी ही है।

रामायण यानी ही मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का चरित्र, और फिर तुलसीदास ने तो विशेष मर्यादा से लिखा है। इसीलिए यह ग्रन्थ सुकुमार बालकों के हाथ में देनेलायक निर्दोष तथा पवित्र है। इसमें सब रसों का वर्णन नैतिक मर्यादा का ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्ति में भी नीति की मर्यादा का अच्छी तरह पालन करवाया है। इसीलिए सूरदास की जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसी की भक्ति संयमित है। इस संयमित भक्ति और उद्दाम भक्ति में वही अन्तर है जो मूल राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति में है। साथ ही, इस रामायण में अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं।

तुलसीकृत रामायण का वाल्मीकि-रामायण की अपेक्षा अध्यात्म-रामायण से अधिक सम्बन्ध है। अधिकाश वर्णनो पर, खासकर भक्ति के उद्‌गारो पर, भागवत की छाप पड़ी हुई है, गीता की छाप तो है ही। महाराष्ट्र के भागवतधर्मीय सन्तो के ग्रन्थो से जिनका परिचय है उन्हे तुलसी-रामायण कोई नयी चीज़ नहीं मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वही संयम। कृष्ण-सखा सुदामा को जिस तरह अपने गॉव मे वापस आने पर यह मालूम हुआ कि कही मै फिर से उसी वैभव-शालिनी द्वारकापुरी मे लौटकर तो नही आ गया, उसी तरह तुलसी-दासजी की रामायण पढते समय महाराष्ट्रीय सन्त-समाज के वचनो से परिचित पाठको को 'हम कहीं अपनी पूर्व-परिचित सन्त-वाणी तो नहीं पढ रहे हैं', ऐसी शका हो सकती है; उसमे भी एकनाथजी महाराज की याद विशेष रूप से आती है। एकनाथ के भागवत और तुलसीदासजीकी रामायण इन दोनो मे विशेष विचार-साम्य है। एकनाथ ने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवत मे ही उतरी है। एकनाथ के भाग-वत ने ही रानडे को पागल बना दिया। एकनाथ कृष्णभक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथ ने कृष्णभक्ति की मस्ती को पचा लिया, यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्ण-भक्त है और ऐसा होते हुए भी अत्यन्त मर्यादा-पालक। इस कारण इस विषय मे उन्हे तुलसीदासजी से दो नबर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदास की मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकाण्ड मे है। उसी काण्ड मे उन्होने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकाण्ड मे भरत की भूमिका अद्‌भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदास की ध्यानमूर्ति थे। ऐसी ध्यानमूर्ति को चुनने मे उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनो राम के अनन्य भक्त थे। लेकिन एक को राम की संगति का लाभ हुआ और दूसरे को वियोग का। पर वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि

वियोग मे ही भरत ने संगति का अनुभव पाया। हमारे नसीब मे परमात्मा के वियोग में रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मण के जैसा संगति का भाग्य हमारा कहाँ! इसीलिए वियोग को भाग्यरूप मे किस तरह बदल सकते हैं, इसे समझने में भरत का आदर्श ही हमारे लिए उपयोगी होगा।

शारीरिक सगति की अपेक्षा मानसिक संगति का महत्त्व अधिक है। शरीर से समीप रहकर भी मनुष्य मन से दूर रह सकता है। दिन-रात नदी में पानी की चादर ओढे सोया हुआ पत्थर गीलेपन से बिल्कुल अलिप्त रह सकता है। उल्टे शारीरिक वियोग मे ही मानसिक संयोग हो सकता है। उसमे संयम की परीक्षा होती है। भक्ति की तीव्रता वियोग से बढ़ती ही है। साक्षात् स्वराज्य की अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न का आनन्द कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव लेने की रसिकता हममें आनी चाहिए। भक्तों मे यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं माँगते, वे भक्ति में ही खुश रहते हैं। भक्ति का अर्थ ही बाहर का वियोग स्वीकार कर अन्दर से मिल जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं, परमभाग्य है—मुक्ति से भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरत का यह भाग्य था। लक्ष्मण का भाग्य भी बड़ा था। पर एक तो हमारी क़िस्मत में वह नहीं और फिर कुछ भी कहिए वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अंगूर खट्टे हैं, सिर्फ यही नही है, किन्तु उपवास मीठा है यह भी है। भरत के भाग्य मे उपवास की मिटास है। तुलसीदासजी के भरत इस भक्ति-भाग्य की मूर्ति हैं। उनका माँगना तो देखिए—

धरम न अरथ न काम-रुचि,
गति न चहउँ निरवान।
जनम-जनम रति राम-पद,
यह बरदान न आन॥

लोक मान्य तिलक ने 'गीतारहस्य' में संन्यासी को लक्ष्यकर यह

कटाक्ष किया है कि 'संन्यासी को भी मोक्ष का लोभ तो होता ही है ।' पर इस ताने को व्यर्थ कर देने की युक्ति भी हमारे साधु-सतो ने ढूंढ़ निकाली है। उन्होने लोभ को ही सन्यास दे दिया। खुद तुलसी दासजी भक्ति की नमक-रोटी से खुश है, मुक्ति की ज्योनार के लिए उन्होंने अनिच्छा दिखायी है। ज्ञानेश्वर ने तो "भोग-मोक्ष निम्बलोण पायातव्वीं" (भोग और मोक्ष पैर तले पड़े हुए उतारा जैसे है), "मोक्षाची सोडी-बांधी करी" (मोक्ष की पोटली को बॉधती छोड़ती है, अर्थात् मोक्ष जिसके हाथ की चीज है), "वहूँ पुरुर्षाथा शिरी । भक्ति जैसी" (चारो पुरुषार्थों से श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनो मे मुक्ति को भक्ति की टहलुई बनाया है। और तुकाराम ने तो "न को ब्रह्मज्ञान आत्मस्थिति भाव'' (मुझे न ब्रह्मज्ञान चाहिए और न आत्म-साक्षात्कार) कहकर मुक्ति से दस्तबरदारी ही लगा दी है ! "मुक्तिवर भक्ति" (मुक्ति से भक्ति बढ़कर है) इस भाव को एकनाथने अपनी रचनाओ मे दस-पॉच बार प्रकट किया है। इधर गुजरात मे नरसिंह मेहता ने भी "हरिना जन तो मुक्ति न मागे (हरिका जनमुक्ति नहीं मागता) ही गाया है। इस प्रकार अन्ततः सभी भागवत-धर्मी वैष्णवो की परम्परा मुक्ति के लोभ से सोलहो आने मुक्त है। इस परम्परा का उद्गम भक्तशिरोमणि प्रह्लाद से हुआ है। "नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः"—इन दीन जनो को छोड़कर मुझे अकेले मुक्त होने की इच्छा नहीं है, यह खरा जवाब उन्होने नृसिंह भगवान् को दिया। इस कलियुग मे श्रौत-स्मार्त्त संन्यास-मार्ग की स्थापना करने वाले शंकराचार्य ने भी "ब्रह्मण्याधायकर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः" गीता के इस श्लोक का भाष्य करते हुए "संगं त्यक्त्वा" का अर्थ "मोक्षेपि फले संगं त्यक्त्वा"—"मोक्ष के विषय में भी आसक्ति का त्याग कर ", ये शब्द अपनी ओर से हेतुपूर्वक बढ़ा दिये है। यो तिलक जी के ताने को सन्तो ने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरत में वियोग-भक्ति का उत्कर्ष दिखाई देता है इसी से तुलसीदासजी के वह आदर्श हुए। भरत ने सेवा-धर्म को खूब निबाहा। नैतिक मर्यादा का सपूर्ण पालन किया, अपने इष्टदेव को कभी बिसरने नहीं दिया। आज्ञा समझकर प्रजा का पालन किया। पर उसका श्रेय राम के चरणों में अर्पण कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगर में रहकर वनवास का अनुभव किया। वैराग्य-युक्त चित्त से यम-नियमादि विषम व्रतों का पालन कर आत्मा को देव से दूर रखनेवाले देह के पर्दे को झीना कर दिया। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत जी न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतित को राम-सम्मुख कौन करता —

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-शम-दम विषम-व्रत आचरत को!
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को!
कलिकाल तुलसी से सठहि हठि राम-सनमुख करत को!!

पर चाहे जो हो, आज के वियोगी भारत के लिए भरत की वियोग-भक्ति का आदर्श सब प्रकार से अनुकरणीय है। तुलसीदासजी ने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभव से उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

: १२ :

कौटुम्बिक पाठशाला

विचारो का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाय तो विचार निर्जीव हो जाते है और जीवन विचारशून्य बन जाता है। मनुष्य घर मे जीवन बिताता है और मदरसे मे विचारो की शिक्षा पाता है, इसलिए जीवन और विचार की पटरी नही बैठती। उपाय इसका यह है कि एक ओर से घर मे मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे मे घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करनी चाहिए। इस लेख मे शालीन कुटुम्ब के विषय मे हमे नही विचारना है, कौटुम्बिक पाठशाला के सम्बन्ध मे ही थोड़ा दिग्दर्शन कराना है। छात्रालय अथवा शिक्षको के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उसपर शिक्षण की इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुम्बिक शाला है। ऐसी कौटुम्बिक शाला के जीवन-क्रम के सम्बन्ध मे—पाठ्यक्रम को अलग रखकर—कुछ सूचनाएँ इस लेख मे करनी है—

(१) ईश्वर-निष्ठा ससार मे सार वस्तु है। इसलिए नित्य के कार्य-क्रम मे दोनो वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप संत-वचनो की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना मे एक भाग नित्य के किसी निश्चित पाठ को देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह सिद्धान्त हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।

(२) आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट सम्बन्ध है इसलिए आहार सात्त्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तलेहुए पदार्थ,

चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइये से रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोई की शिक्षा शिक्षा का एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवाले के लिए रसोई का ज्ञान ज़रूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी सबको वह आनी चाहिए। स्वावलम्बन का वह एक अंग है।

(४) कौटुम्बिक पाठशाला को अपने पायखाने का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ है किसी भी समाजोपयोगी काम से नफ़रत न करना। पाखाना साफ करना अंत्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची तालीम भी इसमे है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढंग का अभ्यास है।

(५) अस्पृश्यों को सबके साथ मदरसे में स्थान मिलना चाहिए यह तो तै हो गया, पर 'कौटुम्बिक' पाठशाला में उन्हे भोजन-काल में भी उसी तरह साथ स्थान मिलना चाहिए। पंक्ति-भेद रखने से काम नहीं चलेगा। आहार-शुद्धि का नियम रहना काफी है।

(६) स्नानादि प्रातःकर्म सवेरे ही कर डालने का नियम होना चाहिए। अस्वस्थता का अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानी से करना चाहिए।

(७) प्रातःकर्मों की तरह सोने के पहले 'सायंकर्म' भी जरूर होने चाहिएँ। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्म का गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध है। खुली हवा में अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षा के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योग में देने ही चाहिए। इसके बिना अध्ययन नहीं होने का। 'कर्मातिशेषेण' द्वारा काम करके बचे हुए समय में वेदाध्ययन करना श्रुति का विधान है।

(९) शरीर को तीन घंटे उद्योग में लगाने और ब्रह्मचर्य और

स्वकृत्य स्वतः करने का नियम रखने के बाद दोनो वेला व्यायाम करने की ज़रूरत नहीं है। फिर भी एक बेला अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक खुली हवा में खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातने के काम को राष्ट्रीय धर्म की प्रार्थना की भाँति नित्यकर्म मे गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घंटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घंटे मे तकली का उपयोग करने से भी काम चल जायगा। कातने का नित्यकर्म यात्रा मे या कही भी छोडे बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपड़े मे खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजे भी जहाँतक सम्भव हो स्वदेशी ही लेनी चाहिएँ।

(१२) सेवा के सिवा दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नही चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमे अपवाद है। पर मौज के लिए या ज्ञान प्राप्ति के लिए भी रात का जागरण निषिद्ध है। नीद के लिए ढाई पहर ही रखने चाहिए।

(१३) रात मे भोजन का नियम नही रखना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा तीनो दृष्टियो से इस नियम की आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयों मे सम्पूर्ण जाग्रति रखकर वातावरण को निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कौटुम्बिक शाला के जीवनक्रम के सम्बन्ध मे ये चौदह सूचनाएँ रखी गयी है। इनमे किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के बारे मे ब्यौरा नहीं दिया गया है। उसपर लिखना हो तो अलग लिखना पड़ेगा। राष्ट्रीय शिक्षण के विषय मे जिन्हे 'रस' है उन्हे इन सूचनाओं पर विचार करना चाहिए। और शंका, सूचना वा आक्षेप जो सूझें उनसे सूचित करना चाहिए।

: १२ :

जीवन और शिक्षण

आज की विचित्र शिक्षा-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। आयु के पहले पन्द्रह-बीस बरसों में आदमी जिन्दगी के झगड़ों में न पड़कर सिर्फ शिक्षण प्राप्त करे और बाद को शिक्षण को बस्ते में बाँधकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथभर लम्बाई का लड़का साढ़े तीन हाथ का कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोजाना जारी है। यह वृद्धि सावकाश, क्रम-क्रम से, थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होने का भानतक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोये तब दो फुट ऊँचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गयी हो। आज की शिक्षा-पद्धति का तो यह ढंग है कि अमुक वर्ष के बिल्कुल आखिरी दिनतक मनुष्य जीवन के विषय में एकबारगी ग़ैर-जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं; यही नहीं, उसे ग़ैर-ज़िम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी ज़िम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। बिल्कुल ग़ैर-ज़िम्मेदारी से पूरी ज़िम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान-कूद हुई। ऐसी हनुमान-कूद की कोशिश में हाथ पैर टूट जायँ तो क्या अचरज।

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता कही। पहले भगवद्-गीता के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते हैं उसे जीवन

से बिल्कुल अलिप्त रखे रहते है, इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन मे मग्न है। तरह-तरह के उच्च विचारो के महल बना रहा है। "मै शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा। मै वाल्मीकि-सा कवि बनूँगा। मै न्यूटन की तरह खोज करूँगा।" एक, दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करना भी थोडो की किस्मत मे ही होता है। पर जिनकी किस्मत मे होता है उनकी ही बात लेते है। इन कल्पनाओ का आगे क्या नतीजा निकलता है? पड़ा जब नोन-तेल-लकड़ी के फेर मे, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की ज़िम्मेदारी क्या चीज है आजतक इसकी बिल्कुल ही कल्पना नही थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेट के लिए बन-बन फिरनेवाले शिवाजी, करुण-गीत गानेवाले वाल्मीकि, और कभी नौकर की तो कभी औरत की, कभी लड़की के लिए वर की और अन्त मे श्मशान की शोध करनेवाले न्यूटन की-सी भूमिका लेकर अपनी कल्पनाओ का समाधान करता है। यह हनुमान-कूद का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा—"क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कालेज 'ज्वाइन' करूँगा।"

"ठीक है। कालेज मे तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर उसका अभी से विचार क्यो किया जाय? आगे देखा जायगा।"

बाद को तीसरे साल उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभीतक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नही सही, लेकिन विचार किया था क्या?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता ही नहीं। पर अभी डेढ वर्ष बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहले की आवाज़ मे बेफिक्री थी, और आज की आवाज में थोडी चिन्ता की झलक।

फिर डेढ वर्षपर उसी प्रश्न-कर्त्ता ने उसी विद्यार्थी से—अथवा कहो 'गृहस्थ' से वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिन्ताक्रान्त था। आवाज़ की बेफिक्री बिल्कुल गायब थी। 'ततः किं? ततः किं? ततः किम्?' यह शंकराचार्य का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग मे कस कर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब था नहीं।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मजबूरन मरना ही पडता है। यह प्रसग उनपर नहीं आता जो 'मरण के पहले ही' मर लेते है, जो अपना मरण आँखो से देखते हैं। जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव लेते है उनका मरण टलता है और जो इससे खिंचते है, घबराते हैं उनकी छाती पर मरण लदता है। सामने खम्भा है यह बात अन्धे को उस खम्भे का छाती मे प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आँखवाले को यह खम्भा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छाती को नहीं लगता।

जिन्दगी की ज़िम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है? अनुभव के अभाव से यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनों आनन्द की वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परमप्रिय पिता ने—ईश्वर ने—वह हमें दिये है। ईश्वर ने जीवन दुःखमय नहीं रचा। पर हमें ज़िंदगी बसर करना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चों के लिए परेशानी की ज़िन्दगी पसन्द करेगा? फिर ईश्वर तो प्रेम और करुणा का सागर ठहरा। वह अपने लाड़ले बच्चों के

लिए सुखमय जीवन का निर्माण करेगा कि परेशानी-भरा जीवन रचेगा ? कल्पना की क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिए न। हमारे लिए जो चीज़ जितनी ज़रूरी है उसके उतनी ही सुलभता से मिलने का इन्तज़ाम ईश्वर की ओर से है। पानी से हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वर ने पानी से हवा को अधिक सुलभ किया है। जहाँ नाक है वहाँ हवा मौजूद है। पानी से अन्न की जरूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की बनिस्बत अन्न प्राप्त करने मे अधिक परिश्रम पडता है। 'आत्मा' सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु होने के कारण वह हर एक को हमेशा के लिए दे रखी गयी है। ईश्वर की यह प्रेम-पूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे जड जवाहरात जमा करने-जितने जड बन जाये तो तकलीफ हमे होगी ही। पर यह हमारी जडता का दोष है, ईश्वर का नही।

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है, आनन्द से ओतप्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची हुई जीवन की सरल योजना को ध्यान मे रखते हुए अयुक्त वासनाओ को दबाकर रखा जाये। पर जैसे वह आनन्द से भरी हुई वस्तु है वैसे ही वह शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जिसने जिन्दगी की ज़िम्मेदारी छोडी वह सारी शिक्षा का फल गँवा बैठा। बहुतो की धारणा है कि जिन्दगी की जिम्मेदारी का खयाल अगर बच्चो मे पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायेगा। पर ज़िन्दगी की ज़िम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्ह-लाता हो तो फिर वह जीवन रहनेलायक ही नहीं है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षा-शास्त्रियो की है और इसका मुख्य कारण है जीवन के विषय मे दुष्ट कल्पना—जीवन को 'कलह' मानना। जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चो को उसमे दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर वह अगर जीने लायक वस्तु हो तो लडको को उसमे जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हे शिक्षा नही मिलने की। भग-

वद्‌गीता जैसे कुरुक्षेत्र मे कही गयी वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्र मे देनी चाहिए —दी जा सकती है। 'दी जा सकती है', यह भी भाषा ठीक नहीं बनती। वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्‌गीता का निर्माण हुआ। इसी का नाम शिक्षा है। बच्चो को खेत मे काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो उसकी वाक्फियत दो। यह सच्ची शिक्षा होगी। बच्चो को रसोई बनाने दो। उसमे जहाँ जरूरत हो रसायन-शास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहार मे काम करनेवाले आदमी को भी शिक्षा मिलती ही रहती है। वैसे ही छोटे बच्चों को भी मिलेगी। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आसपास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद होगे। वह आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वह भी 'जीवन जीनेवाले' होंगे, जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते हैं। अन्तर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालो का जीवन विचारमय होगा, उसमें के विचार मौके पर बच्चे को समझाकर बताने की योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतन्त्र धन्धे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि से बाहर के किसी प्राणी की। और 'क्या करते हो' पूछने पर 'पढता हूँ' या 'पढ़ाता हूँ' ऐसे जवाब की जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूँ' अथवा 'बुनता हूँ' ऐसी शुद्ध पेशेवर की-सी भाषा बोलो। पर जीवन के भीतर मे उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र का लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लड़कों को भेजा। लड़कों

मे भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षण के 'काम' के लिए जाते है। उसमे उन्हे अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञरक्षा की'। 'शिक्षा प्राप्त की' नहीं कहा जायेगा। पर शिक्षा उन्हे मिली, जो बरबस मिलनी थी।

शिक्षा कर्त्तव्य कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्त्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलती ही है। लड़को को भी वह उसी तरह प्राप्त करनी चाहिए। औरो को वह ठोकर खा-खाकर मिलती है। छोटे लडको मे आज उतनी शक्ति नहीं है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण रखना चाहिए कि बहुत ठोकरे न लगने पावें, और धीरे-धीरे उनके स्वावलम्बी बनने की अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा इस फल के लिए भी लागू है। शिक्षा के लिए कोई कर्म करना सकाम हुआ—और उसमे भी 'इदमद्य मया लब्धम्',—आज मैने यह पाया, 'इदं प्राप्स्ये'—कल वह पाऊँगा, इत्यादि वासनाएँ आती ही है। इसलिए इस 'शिक्षा-मोह' से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षा मिली समझनी चाहिए। माँ बीमार है, उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षा मिलेगी। पर इस शिक्षा के लोभ से मुझे माता की सेवा नही करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षा' समझता हूँ वह—जाती है तो इस शिक्षा के जाने के डर से मुझे माता की सेवा से बाज नही आना चाहिए।

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षा में स्थान मिलना चाहिए, इसे स्वीकार करते हुए कुछ शिक्षा-शास्त्री जरा और आगे बढकर कहते है कि यह परिश्रम शिक्षा की दृष्टि से ही दाखिल करना चाहिए;

पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने का' जो विकृत अर्थ प्रचलित है उससे घबराकर यह लोग ऐसा कहते है और उस हदतक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाज के बहुतेरे दुःख और पातकों का पता न रह जाये। इसीसे मनु ने 'योऽर्थशुचिः सहि शुचिः'—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है वही पवित्र है, यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। सर्वेषाम-विरोधेन' कैसे जियें, इस शिक्षा मे सारी शिक्षा समा जाती है। अविरोध-वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्रा के लिए उपयुक्त परिश्रम करने को ही शास्त्रकारो ने 'यज्ञ' नाम दिया है। अतः मैं शरीर-निर्वाह के लिए परिश्रम करता हूँ, यह भावना उचित है। 'शरीर-यात्रा' से मतलब साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा से नहीं है। समाज-शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मनमें बैठाना चाहिए, मेरी शरीर-यात्रा मानो समाज की सेवा और ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवा में देह खपाना मेरा कर्त्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह ज्ञान हर एक को होना चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चों को भी होना चाहिए। इसके लिए उनकी ताकत भर उन्हें जीवन में भाग लेने का मोका देना चाहिए, और जीवन को मुख्य केन्द्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारी शिक्षा को सजाना चाहिए।

इससे जीवन के दो खण्ड न होंगे। जीवन की जिम्मेदारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षा का मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

: १४ :

कोरा शिक्षण

एक देशसेवाभिलाषी युवक से किसी ने पूछा—"कहिए, अपनी समझ मे आप क्या काम अच्छा कर सकते है ?"

उसने उत्तर दिया, "मेरा खयाल है, मै सिर्फ शिक्षण का काम कर सकता हूँ और उसीका शौक है।"

"ठीक है। अक्सर आदमी को जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है। पर यह कहिए कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नही ?"

"जी नहीं। दूसरा कोई काम नहीं करना आयेगा। सिर्फ सिखा सकता हूँ। और विश्वास है कि अच्छा सिखा सकता हूँ।"

"हाँ, हाँ, अच्छा सिखाने मे क्या शक है, पर अच्छा क्या सिखा सकते है ? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे ?"

"नहीं, वह नही सिखा सकता।"

"तब, सिलाई ? रँगाई ? बढईगिरी ?"

"न, यह सब कुछ नही।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरह घरेलू काम सिखा सकेंगे ?"

"नही, काम के नाम से तो मैंने कुछ किया ही नहीं, मैं सिर्फ शिक्षण का ··· · ······ ··"

"अरे, जो पूछा जाता है उसीमे 'नहीं', 'नही' और कहे जाते हैं 'सिर्फ' शिक्षण का काम कर सकता हूँ। इसके मानी क्या है ? बागवानी का काम सिखा सकियेगा ?"

देशसेवाभिलाषी ने ज़रा चिढकर कहा, "यह क्या पूछ रहे हैं? मैंने शुरू में ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूँ।"

प्रश्नकर्त्ता ने जरा मज़ाक से कहा, "ठीक कहा। अबकी आपकी बात समझ मे आयी! आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते है क्या?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशय का पारा गरम हो उठा और मुँह से कुछ ऊटपटांग निकलने को ही था कि प्रश्नकर्त्ता बीच मे ही बोल उठा—"शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे?"

अब तो हद हो गयी। आग में जैसे मिट्टी का तेल डाल दिया हो। यह संवाद खूब ज़ोर से भभकता, लेकिन प्रश्नकर्त्ता ने तुरत उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढ़ना सिखा सकेंगे और इसका भी जीवन मे थोड़ा-सा उपयोग है; बिल्कुल न हो ऐसा नहीं है। खैर, आप बुनाई सीखने को तैयार हैं?"

"अब कोई नयी चीज़ सीखने का हौसला नहीं है और तिसपर बुनाई का काम तो मुझे आने का ही नहीं, क्योंकि आजतक हाथ को ऐसी कोई आदत ही नहीं।"

"माना, सीखने में कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन न आने की क्या बात है?"

"मैं तो समझता हूँ, नहीं आयेगा। पर मान लीजिए बड़ी मेहनत से आया भी तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है; इसलिए मुझसे यह नहीं होगा यही समझिए।"

"ठीक, जैसे लिखना सिखाने को तैयार हैं वैसे खुद लिखने का काम कर सकते हैं?"

"हाँ, ज़रूर कर सकता हूँ। लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहने का

काम है झझटी; फिर भी उसके करने मे कोई आपत्ति नहीं है।" यह बात-चीत यही पूरी हो गयी। नतीजा इसका क्या हुआ यह जानने की हमे जरूरत नहीं।

शिक्षको की मनोवृत्ति समझने के लिए यह बातचीत काफी है। शिक्षक यानी—

किसी तरह को भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य ;

कोई नयी कामलायक चीज सीखने मे स्वभावतः जो असमर्थ हो गया है।

क्रियाशीलता से हमेशा के लिए उक्ताया हुआ ;

'कोरे शिक्षण' का घमण्ड रखनेवाला ;

'कोरे शिक्षण' का मतलब है जीवन से तोडकर विलगाया हुआ मुर्दार शिक्षण और शिक्षक के मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते हैं। पर यह है वाणी का व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्धि-जीवन की ज्योति जगाकर दिखाते हैं। 'गीता' मे बुद्धि-ग्राह्य जीवन का अर्थ अतीन्द्रिय जीवन बतलाया है। जो इन्द्रियो का गुलाम है, जो देहासक्ति का मारा हुआ है वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धि का पति आत्मा है। उसे छोड़कर देहपरायण हो जानेवाली बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि का जीवन ही मरण है। और ऐसे जीवन-धारी मृत-जीवी कहा जायेगा। सिर्फ शिक्षण पर जीनेवाले जीव इस विशेष अर्थ में मृतजीवी होते हैं। इन सिर्फ शिक्षण पर जीनेवालों को मनु ने 'मृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्ध के काम में इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध में तो मृत पूर्वजों की स्मृति को जिन्दा करना रहता है और जिन्होने प्रत्यक्ष जीवन को मृत करने में कमाल किया है उनकी इस काम में क्या जरूरत?

शिक्षकों को पहले 'आचार्य' कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करानेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्रों का निर्माण हुआ है। आज हिन्दुस्तान की नयी तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माण का काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकों के बिना वह सम्भव नहीं है।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्र का सुशिक्षित वर्ग निरग्नि और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षण की आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्नि की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियाँ जहाँ हैं वहाँ अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी हैं आत्माहुति देने की, आत्मत्याग की शक्ति और 'स्वधा' के मानी हैं आत्मधारण की शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ राष्ट्र-शिक्षण में जाग्रत होनी चाहिएँ। इन शक्तियों के होने पर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। बाकी सब 'ठन-ठन गोपाल' है, कोरा शिक्षण है। ऊपर से दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकों ने बड़ा आत्मत्याग किया है। पर वह उतना सही नहीं है। साधारण स्वार्थ-त्याग अथवा मतलबी त्याग के मानी आत्मत्याग नहीं है। उसकी कसौटी है। आत्मत्याग की शक्ति के साथ-साथ आत्मधारण की शक्ति न हुई तो त्याग कोई काहे का करेगा? जो आत्मा अपने को खड़ा ही नहीं रख सकता वह कूदेगा कैसे? मतलब, आत्मत्याग की शक्ति में आत्मधारण पहले से शामिल ही है। वह आत्मधारण की शक्ति—'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकों ने अभीतक भी सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग का जो आभास-सा है वह आभास-भर ही है।

पहले स्वधा होगी, उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण की अर्थात्

राष्ट्रीय शिक्षको को अब स्वधा-सम्पादन की तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षको को 'कोरे शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोडकर स्वतन्त्र जीवन की जिम्मेदारी—जैसी किसानो पर होती है वैसी—अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियो को भी उसीमे दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारो ओर शिक्षण की रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। 'गुरो. कर्मातिशेषेण' इस वाक्य का अर्थ है 'गुरु के काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है। नही तो गुरु की व्यक्तिगत सेवा इतना ही अगर 'गुरोः कर्म' का अर्थ ले तो गुरु की सेवा आखिर कितनी होगी ? और उसके लिए कितने लड़को को कितना काम करने को रहेगा। इसलिए 'गुरोः कर्म' करने के मानी हैं गुरु के जीवन मे ज़िम्मेदारी से हिस्सा लेना। वैसा दायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमे जो शका वगैरह पैदा हो उन्हे गुरु से पूछे और गुरु को भी चाहिए कि अपने जीवन की ज़िम्मेदारी निबाहते हुए और उसीका एक अग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देता जाय। यह शिक्षण का स्वरूप है। इसीमे थोड़ा स्वतन्त्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यास के लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वर की उपासना के लिए ही होने पर भी जैसे सुबह-शाम थोडा समय उपासना के लिए देना पडता है, वही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षण के लिए लागू करना चाहिए। मतलब, जीवन की जिम्मेदारी के काम ही दिन के मुख्य भाग मे करने चाहिए और उन सभीको शिक्षण का ही काम समझना चाहिए। साथ ही, रोज कुछ वक्त 'शिक्षण के निमित्त' मानकर भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन मे उतारना राष्ट्रीय शिक्षक का कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करते रहने से उसके जीवन से अपने-आप उसके आसपास शिक्षा की किरणे फैलेगी और उन किरणो के प्रकाश से आसपास के वातावरण का काम अपने आप हो

जायगा। इस प्रकार का शिक्षक स्वतः शिक्षण-केन्द्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्य को पवित्र जीवन बिताने की फिक्र करनी चाहिए। शिक्षण की फिक्र करने को वह जीवन ही समर्थ है; उसके लिए 'कोरे शिक्षण' की हवस रखने की ज़रूरत नहीं।

: १५ :

भिक्षा

मनुष्य की जीविका के तीन प्रकार होते है—

(१) भिक्षा, (२) पेशा और (३) चोरी।

भिक्षा, अर्थात् समाज की अधिक-से-अधिक सेवा करके समाज से सिर्फ शरीरधारण-भर को कम-से-कम लेना, और वह भी हारे दर्जे और उपकृत भावना से।

पेशा, अर्थात् समाज की विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला माँग लेना।

चोरी, अर्थात् समाज की कम-से-कम सेवा करके या सेवा करने का नाटक करके या बिल्कुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाज से ज़्यादा-से-ज्यादा भोग लेना।

प्रत्यक्ष चोर, लुटेरे, खूनी और इन्ही-सरीखे वे 'इन्तजामकार' पुलिस, सैनिक हाकिम वगैरह सरकारी नौकर; इन्तजाम के बाहर के वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरह उच्च उद्योगी और अव्यापारेषु-व्यापार करनेवाले—ये सब तीसरे वर्ग मे आते है।

भूमि पर मशक्कत करनेवाले किसान और जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्ग मे जाने के अभिलाषी है, जानेवाले नही। कारण, उनको उचित पारिश्रमिक पाने की इच्छा होते हुए भी तीसरे वर्ग की करतूत के कारण आज उनमे से बहुतो को उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और वे जबरन पहले वर्ग मे ढकेले जारहे है।

पर जो जबरन पहले वर्ग मे पहुँचाये जाते है वे निस्सदेह तीसरे वर्ग में दाखिल हो जाते हैं।

पहले वर्ग मे दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोड़े, सच्ची लगन के साधु पुरुष हैं। बहुत ही थोडे है, पर है; और उन्हींके बल पर दुनिया टिकी है। वे थोड़े हैं पर उनका बल अद्भुत है।

"भिक्षावृत्ति लोप हो रही है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए।" जब समर्थ यह कहते हैं तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्ग को बढ़ाना है।

इसीको गीता मे 'यज्ञ-शिष्ट' अमृत खाना कहा है। और गीता विश्वास दिलाती है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है।

आज हिन्दुस्तान मे बावन लाख 'भीख माँगनेवाले' हैं। समर्थ के समय में भी बहुत 'भिखमंगे' थे, फिर भी भिक्षा-वृत्ति का जीर्णोद्धार करने की ज़रूरत समर्थ को क्यो जान पड़ी?

इसका जवाब भिक्षा की कल्पना में है। बावन लाख की भिक्षा का जो अर्थ है वह तो चोरी का ही एक प्रकार है।

भिक्षा का मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम-से-कम लेना। और इतना भी, बिल्कुल न लेने पर शरीरनिर्वाह नहीं होता इसलिए उतने-भर के लिए लेना पडता है। पर हक मानकर नहीं। समाज का मुझपर यह उपकार है, इस भावना से। भिक्षा में परावलम्बन नहीं है, ईश्वरावलम्बन है; समाज की सद्भावना पर श्रद्धा है; यथालाभ संतोष है; कर्त्तव्यपरायणता है; फलनिरपेक्ष वृत्ति का प्रयत्न है।

लोक-सेवक का शरीर-रक्षण एक सामाजिक कार्य है। खादी-प्रचार के सामाजिक काम के लिए यदि किसीको कोई पूंजी दी जाय तो उस पूँजी को वह उचित रूप से, हिसाब रखकर उस काम में लगाता है। मैं लोक-सेवक हूँ तो मेरा शरीर-धारण-कार्य भी खादी के काम जैसा ही समाजिक कार्य है, और उसके लिए मुझे इतना खर्च, आवश्यकतानुसार,

समाज देता है। उस रकम का उपयोग मुझे उसी काम मे करना चाहिए, उचित रूप से करना चाहिए, उसका हिसाब रखना चाहिए, और वह हिसाब लोगो की जांच के लिए रखना चाहिए। अर्थात् सब तरह से एक पंच जैसे व्यवस्था करेगा वैसे 'निर्मम' भावना से मुझे अपने शरीर की व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ सेवको को कहते सुना जाता है—अपने पैसे को हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसे का हिसाब ठीक रक्खेगे; लोगो को दिखायेंगे, उनकी आलोचना सुनेगे, उन्हे संतोष दिलायेंगे, नहीं तो क्षमा मॉगेंगे। पर अपने पैसे का हिसाब ठीक रखने को हम मजबूर नहीं हैं, और दूसरों को दिखाने की तो कोई बात ही नहीं। यदि सचाई से समाजसेवा करने वाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' बन गयी। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा।' भिक्षावृत्ति नहीं।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा? जैसे खादी के काम के लिए खादी का ज्ञाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया उसी तरह तेरे शरीर के काम के लिए, तुझे उसका ज्ञाता समझकर, पैसा दिया गया। खादी के लिए दिया हुआ पैसा जब तेरा नहीं है तब तेरे शरीर के लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ? दोनो काम सामाजिक ही हैं।

एक खादी-प्रचारक से पूछा गया, "तुम्हे कितने की जरूरत है?"

"तीस रुपये महीने की।"

"तुम तो अकेले हो, फिर इतने की जरूरत क्यो है?"

"दो-तीन गरीब विद्यार्थियों को मदद देता हूँ।"

"हम यह मान लेते है कि गरीब विद्यार्थियो को इस तरह मदद देना अनुचित नहीं है। पर मान लो कि खादी के काम के लिए तुम्हे पूँजी दी गयी तो उसमे से राष्ट्रीय शिक्षण के काम मे लगाओगे क्या?"

"नहीं।"

"तब तुम्हारे शरीर का पोषण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हें दी गयी रकम में से गरीब विद्यार्थियो को मदद देने मे, जो दूसरा सामाजिक काम है, खर्च करने का क्या मतलब?"

यह इस भिक्षा-वृत्ति का महत्त्वपूर्ण दृष्टिबिन्दु है। भिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्य को दान का अधिकार नहीं है। दान हो या भोग 'मैं' ही दोनो में कर्त्ता है। और भिक्षा में 'मैं' की ही गुंजाइश नहीं है। इसीसे दोनों का खात्मा हो गया। न भोग मे फँसो, न त्याग मे पडो—यह भिक्षावृत्ति का सूत्र है। भिक्षावृत्ति के मानी है 'घर बडा करना,' बडी जिम्मेदारी सिर पर लेना। भिक्षा गैरजिम्मेदार नहीं है।

भिक्षा मॉगने के मानी है 'मॉगना छोड़ देना।' बाइबिल में कहा है, 'मॉगो तो मिल जायेगा।' उसका मतलब है भगवान् से मॉगो तो मिलेगा। पर समाज से? 'मॉगो मत, मिलेगा।'

'भिक्षा मॉगना' ये शब्द विसंवादी हैं—मेल नहीं खाते। कारण, भिक्षा के माने ही है न मॉगना।

भिक्षा माँगना ये शब्द पुनरुक्त हैं। क्योंकि भिक्षा ही स्वतःसिद्ध माँगना है। भिक्षा माँगनी नहीं पडती। कर्त्तव्य की थैली में टके धरे हुए ही हैं। [१२ : ७ : ४०

: १६ :

गाँवों का काम

असहयोग-आन्दोलन के समय से गॉवो की ओर लोगो का ध्यान खिंचा है। गॉवो का महत्त्व समझ में आने लगा है। कितने ही सेवक गॉवो मे काम भी करने लगे है, और कुछ को उसमे कामयाबी भी हुई है। पर बहुतो को सफलता नही मिली है।

इसके पहले सुशिक्षितो की दृष्टि गॉवो की ओर गयी ही न थी। पहले तो नजर परायो की ओर थी। जैसे, इग्लैण्ड की जनता को अनुकूल करना चाहिए, सरकार को परिस्थिति समझानी चाहिए, आदि। बाद को निगाह अपनो की ओर फिरी। पर शहरो की ओर, सुशिक्षितो की ओर। 'सुशिक्षितो मे राष्ट्रीय भावना पैदा करनी चाहिए' की बुनियाद पर सारा आन्दोलन चलता था। असहयोग के जमाने मे गॉवो की ओर नजर गयी। आगे बढे तो रचनात्मक कार्यक्रम के आन्दोलन मे गॉवो मे प्रवेश करने की, ग्रामवासी जनता की सेवा करने की प्रत्यक्ष प्रेरणा हुई। और जो थोडा-बहुत नतीजा सामने है वह इसी प्रेरणा का फल है। इतने वर्षों के लम्बे अनुभव के बाद हमे सूझा कि 'तेरा साईं तेरे पास, तू क्यो भटके संसार मे ?' फिर भी काम की शुरूआतही होने के कारण बहुत से स्थानो मे गॉव का काम निष्फल हुआ।

यह कोई नयी बात नहीं है। शुरू-शुरू मे ऐसा होता ही है। निराशा की कोई वजह नही, न निराश होने की स्थिति ही है। कारण, कुछ स्थानो मे गॉवो के प्रयोग सफल भी हुए है। इसके सिवा जो प्रयोग अस-

फल प्रतीत होते हैं वे भी प्रतीत-भर होते हैं, दरअसल असफल नहीं हुए है। पत्थर तोड़ने में पहली चोट बेकार गयी-सी जान पड़ती है। पर उसका नतीजा तो होता ही है। इस मिसाल में फोड़ा जानेवाले पत्थर गाँव की जनता नहीं बल्कि हमारे सुशिक्षितों का हृदय है।

अब हमारे मन में गाँवों में जाने की बात तो आने लगी है, लेकिन हम गाँवों में अपने शहरी ठाठ-बाट के साथ जाना चाहते हैं, इससे हमारा काम जमता नहीं। गाँवों में ग्रामीण होकर जाना चाहिए। यही हमारी असफलता का मुख्य कारण है।

गाँव में गया हुआ सुशिक्षित मनुष्य आज भी ग्रामीण तो नहीं ही बन पाया। वहाँ वह 'परोपकार' के जोम में जाता है। उसे गाँववालों से खुद कुछ सीखना है यह वह भूल जाता है।

उसे लगता है 'अरे, ये बेचारे अज्ञान में पड़े दिन बिता रहे हैं।' अपना घोर अज्ञान उसे नहीं दिखाई देता, और खुद उसे क्या करना चाहिए इसे बिसारकर वह लोगों से काम लेने के फेर में पड़ जाता है। इसकी वजह से वह ग्राम-जीवन से बिल्कुल अलग सा हो जाता है।

(१) अपनी सुशिक्षितपन की आदतें छोड़कर हमें गाँव में जाना चाहिए।

(२) गाँववालों को शिक्षा देने की वृत्ति लेकर नहीं जाना चाहिए।

(३) खुद भी काम में लगना चाहिए।

ये तीन महत्त्वपूर्ण बातें हमें ध्यान में रखनी चाहिए।

अकसर ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी गाँव में जा बैठता है और किसी एक काम को, जिसे—गाँव की मदद के बिना—वह कर सकता था, सारे गाँवभर में हलचल मचाकर भी नहीं कर पाता। अपने काम का उसे पूरा हिसाब—क्षण-क्षण का—रखना चाहिए। गाँव के आदमियों की निगाह में उद्योगी आदमी की इज्जत

होती है। जो सुशिक्षित आदमी गाँव मे जाकर किसीको कुछ सिखाने का खयाल छोड़कर रात-दिन काम मे जुता रहेगा और अपने चरित्र की चौकसी करता रहेगा वह अपने-आप गाँव के लिए उपयोगी बन जायगा, और आकाश मे जैसे तारे चन्द्रमा के चारो ओर इकट्ठे रहते है वैसे ही लोग उसके चारो ओर जमा हो जायँगे। हिन्दुस्तान की ग्रामवासी जनता कृतज्ञ है, गुण परखने की शक्ति उसमे भरपूर है।

ग्राम-सगठन का काम चरित्रबल के अभाव मे सम्भव नहीं है। और गाँव की जनता के चारित्र्य का बटखरा 'प्राथमिक' सद्गुणो पर अवलंबित है, और यही असली बटखरा है। प्राथमिक सद्गुणो से मतलब है नीति के मूलभूत सद्गुण। उदाहरणार्थ, आलस्य न होना, निर्भयता, प्रेम, इत्यादि। दिखाऊ उपार्जित गुण वक्तृत्व, विद्वत्ता वगैरह गाँवो के लिए बहुत उपयोगी नहीं होते। गाँव मे काम करनेवाले मे भक्ति की लगन होनी चाहिए, भाव होना चाहिए। यह प्राथमिक सद्गुणो का राजा है।

पर अपने लोगो की पवित्र भावना मे अभी हम रमे ही नही। यह हमारी निष्फलता का बहुत ही बडा कारण है। गाँव के लोगो के वहम, अधविश्वास हममे न होने चाहिए। लेकिन उनमे जो कीमती भावनाएँ है वे तो हममे होनी ही चाहिए। पर वे नही हैं। भजन से हम भागते हैं। ईश्वर के नामोच्चारण से हमारे हृदय मे भावना की बाढ आनी चाहिए पर वह नही आती। ईश्वर, धर्म, सन्तो के बारे मे पूरी कल्पना न रखनेवाले गँवारो मे जो भक्ति-भाव होता है वह उनके सम्बन्ध मे वास्तविक और यथार्थ ज्ञान रखनेवालो मे उनसे सौ गुना ज़्यादा होना चाहिए। पर हमे ईश्वर अथवा साधु-सन्तो के सम्बन्ध मे बिल्कुल ही ज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, भान भी नही होता, अलबत्ता, विपरीत ज्ञान भरपूर होता है। इस वजह से जनता के हृदय से हमारा हृदय मिल नहीं सकता। अस्पृश्यता-सरीखी जो विपरीत भावनाएँ धर्म के नाम से जनता

में रूढ़ हो गयीं हैं उन्हें निकाल डालने का उसीका प्रयत्न सफल होगा या उसीको प्रयत्न करना चाहिए जिसके हृदय मे जनता के हृदय की पवित्र भावनाएँ हिलोरें मारती हो। जनता की योग्य भावना जिसमें नही है वह जनता की अयोग्य भावना कैसे निकाल सकेगा?

लोगो की भली भावनाओ मे शामिल न हो सकना जैसे एक दोष है, वैसे ही दूसरे लोगो के शारीरिक परिचय की व्यर्थ इच्छा रखना भी दोष है और हमारे काम के लिए घातक है। किसी तरह लोगो से ख़ूब जान-पहचान बढ़ाने की हवस से इधर-उधर के काम में व्यर्थ हाथ डालने से काम बिगड़ता है। बहुत जान-पहचान हो जाने से हमारा लोगों के प्रति आदर-भाव कम हो जाता है। लोगों की छोटी-मोटी बातों पर बेमतलब ध्यान देने से हम उनकी सेवा नहीं कर सकते। सेवक को परिचय के बजाय प्रेमादर की ज्यादा जरूरत होती है। लोगो से परिचय कुछ कम हो और उनके लिए आदर अधिक, तो सेवक के लिए यह ज्यादा अच्छा है।

लेकिन 'लोगों से ख़ूब जान-पहचान होनी चाहिए', यह बात अच्छे-अच्छे सेवावृत्तिवालो के मुँह से भी सुनी जाती है। पर इसकी जड़ में अहंकार छिपा हुआ है। सेवक को सेवावृत्ति की मर्यादा जाननी चाहिए। हमारे शरीर मे कोई ऐसा पारस पत्थर नहीं चिपका हुआ है कि किसी-का किसी तरह भी हमसे सम्बंध जुड़ा नहीं कि वह सोना हुआ। सेवा के निमित्त से लोगों से जितना परिचय होता हो ज़रूर होना चाहिए। ढूँढ-ढूँढकर परिचय के मौके निकालने की सेवक के लिए जरूरत नहीं है। सच्चे सेवक के पास सेवा अपने आप हाजिर रहती है, उसे प्रसंग ढूंढते नहीं फिरना पड़ता। शरीर से परिचय बढ़ाने और उसीके साथ मन से जनता के बारे में अनादर बढ़ाते जाने मे कोई फायदा नहीं है।

इसके सिवा हममें एक और दोष है—त्याग का गर्व। हम थोड़ा-बहुत त्याग कर पाते हैं। लेकिन त्याग का अभिमान त्याग को भग डालना

है। त्याग करके हम किसीपर कोई एहसान नही करते। इसके सिवा हमारा त्याग शहर की निगाह से 'त्याग' माना भी जाये तो गॉव-गॅवई के हिसाब से उसकी कोई बडी वकत नही। गॉव मे तो बहुत बड़े त्याग की ज़रूरत है। स्वय गॉव के लोग—चाहे मजबूरी का ही क्यो न हो—त्याग से ही रहते है। उस हिसाब से हमारा त्याग किसी गिनती मे नहीं है। और फिर उसका 'गर्व'! इससे तो सेवा बिल्कुल हो ही नही सकती।

इन दोषो को निकाल देने का प्रयत्न करने पर फिर हमारा गॉव का काम असफल न होगा।

: १७ :

अस्पृश्यता-निवारण का यज्ञ

अस्पृश्यता-निवारण की बात उठने पर कुछ लोग कहते हैं—"अरे, यह बात तो होने ही वाली है, ज़माना ऐसा ही आ गया है; इसके लिए इतना आग्रह रखने की क्या ज़रूरत ?" समय अनुकूल है इसलिए कोशिश की ज़रूरत नहीं और समय प्रतिकूल हो तो कोशिश से कुछ होनेका नहीं। "जब समय ही प्रतिकूल है तो हम चाहे कितनी भी कोशिश करें, क्या होगा ?" मतलब निकला दोनों तरह से 'कोशिश की ज़रूरत नहीं है !' दुनियावी कामों में कोशिश और धर्म को भाग्य-भरोसे, खूब ! यह धर्म को धोखा देना है तो ? लेकिन धर्म कभी धोखे में नहीं पड़ सकता। धर्म को धोखे मे डालनेवाला मनुष्य अपने-आपको ही धोखे में डालता है। धर्म के मामले में 'कम-से-कम क्या होना चाहिए जी ?' यह कंजूसी जैसी बुरी है, वैसी ही 'हो ही रहा है', 'हो ही जायगा', यह भाग्य-वादिता भी बुरी है। 'होनेवाला ही है' इसके मानी क्या ? बिना किये होनेवाला है ? लड़के की शादी बिना किये नहीं होती और अस्पृश्यता-निवारण बिना किये हो जायगा ? और समय के प्रवाह के मानी क्या हैं ? समाज के मिले-जुले कर्तृत्व को ही तो 'समय का प्रवाह' कहते हैं। उसमें से मैंने अपना कर्तृत्व निकाल लिया तो उतने हिस्से में सामुदायिक कर्तृत्व कमज़ोर पड़ जायगा, और सौ सयानों का एकमत हो गया तो सारा कर्तृत्व खत्म ! लेकिन "समय का प्रवाह अस्पृश्यता-निवारण के अनुकूल है" इसका अर्थ अगर यह किया जाय कि "हरिजनों में जागृति आ गयी है, वे हमसे

अपने-आप करा लेंगे, फिर हम क्यों करें" तब तो ठीक ही है। वह भी होगा। लेकिन हमे फिर आत्म-शुद्धि का पुण्य नहीं नसीब होने का। ज्ञानदेव ने जैसा कहा है कि दूध उफन जाने से होम हुआ नहीं कहलाता। अग्नि का आहुति लेना और अग्नि को आहुति देना, दोनो में भेद है। पहली चीज़ को आग लगाना कहते हैं और दूसरी को यज्ञ करना कहा जाता है। हम आत्म-शुद्धि के यज्ञ-कुंड में अस्पृश्यता की आहुति न देंगे तो सामाजिक विप्लव की आग लगकर अस्पृश्यता जल जानेवाली है, यह निश्चित बात है। परमेश्वर हमे सद्बुद्धि दे !

दूसरा खंड

अन्य विचार

: १ :

आज़ादी की लड़ाई की विधायक तैयारी

आजकल हिन्दुस्तान मे आजादी की लड़ाई की चर्चा चल रही है। कुछ लोग कहते है कि इस बार की लड़ाई आखिरी होगी और द्रष्टाओं की तो भविष्यवाणी है कि कई कारणो से स्वराज्य हमारी दृष्टि की ही नहीं, हाथ की भी पहुँच मे आगया है।

अनेक कारणो की बदौलत स्वराज्य नजदीक चाहे आगया हो, पर 'स्वराज्य' के विषय मे मुख्य प्रश्न है कि 'स्व' के कारण वह कितना नजदीक आया ? स्व-राज्य अनेक कारणो से नहीं मिलता, वह तो अकेले 'स्व-कारण' से ही मिलता है।

उधर यूरोप मे एक महायुद्ध हो रहा है। भेड़ियों का एक दल कहता है कि विरोधी दल के भेड़ियो द्वारा निगले गये मेमनों को—संभव हो तो जिन्दा नहीं तो कम-से-कम मरी हुई हालत में—छुड़ाने के लिए हमने यह महायुद्ध स्वीकार किया है। अबतक के आठ महीनों मे तो भेड़िये का पेट फाड़कर पुराने मेमनों को बाहर निकालने के बजाय नित-नये मेमने गले के नीचे उतारने का ही सिलसिला जारी है। इधर विरोधी दल के भेड़ियो के पेट मे पहले ही से पड़े हुए बड़े-बड़े मोटे-ताजे अधमरे मेमने इस आशा से कि भेड़ियों की इस झगड़ा-झपटी में हम सबके सब उगल दिये जायँगे मन के लड्डू खा रहे हैं।

ने हिंसक" उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लड़ी जा रही है। हमारी लड़ाई अहिंसक साधनों से अहिंसक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होगी। इन दोनों में भारी अन्तर होते हुए भी उस हिंसक लड़ाई से हम कई बातें सीख सकते हैं। लड़ाई के साधन चाहे जैसे क्यों न हों, आजकल का युद्ध सामुदायिक तथा सर्वांगीण सहयोग का एक जबर्दस्त प्रयत्न होता है। यद्यपि इस प्रयत्न का फल विध्वंसक होता है, और उद्देश्य भी विध्वंसक होता है, तथापि वह प्रयत्न स्वयं प्रायः सारा-का-सारा विधायक ही होता है। कहते हैं कि जर्मनी ने सत्तर लाख फौज तैयार की है। आठ करोड़ के राष्ट्र का इतनी बड़ी फौज तैयार करना, इतने बड़े पैमाने पर लड़ाई के हरबा-हथियार, और साधन-सामग्री जुटाना, चुने हुए लोगों को फौज में भरती करने के बाद बाकी लोगों द्वारा राष्ट्रीय कारबार चलाना, संपत्ति की धारा अव्याहत गति से प्रवाहित रखने के लिए औद्योगिक योजनाएँ यथासंभव अखंड रूप से जारी रखना, सब स्कूल-कालिज बन्द कर देना, नित्य की जीवन-सामग्री की व्यक्तिगत मिलकियत के अधिकार पर सरकारी कब्ज़ा जमा लेना, जिस प्रकार विश्वरूपदर्शन में आँख, कान, नाक, हाथ, पैर, सिर, मुँह अनन्त होते हुए भी हृदय एक ही दिखाया गया है, मानो उसी प्रकार सारे राष्ट्र का हृदय एक करना—यह सब इतना विशाल और इतना सर्वतोमुख विधायक कार्यक्रम है कि उसके संहारपरायण होते हुए भी हम उससे बहुत कुछ सीख सकते हैं।

लोग पूछते हैं—"गांधीजी लड़ाई की तैयारी करने को कहते हैं, मगर इससे रचनात्मक कार्यक्रम का सम्बन्ध क्यों जोड़ देते हैं? हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता-निवारण, खादी और ग्रामोद्योग, मद्य-निषेध, गाँव की सफ़ाई तथा नयी तालीम,—यह सारा रचनात्मक कार्यक्रम है। इसमें लड़ाई का तत्व कहाँ है?" यह सवाल कौन लोग पूछते हैं? वही, जो यह मानते हैं कि इसमें लड़ाई अहिंसक साधनों से ही करनी चाहिए।

उनकी समझ मे यह क्यो नही आता कि हिसक लडाई के लिए भी अधिकाश मे विधायक कार्यक्रम की ही ज़रूरत होती है। सिपाहियो के लिए बिस्कुट बनाने से लेकर—नही, नही खेतो मे आलू बोने से लेकर—पनडुब्बियो द्वारा दुश्मनो के जहाज डुबाये जाने तक सब-का-सब लडाई का एक अखड कार्यक्रम होता है और उसके अन्तिम अश के सिवा शेष सारा प्रायः रचनात्मक ही होता है। इस विधायक कार्यक्रम पर ही उस अन्तिम विनाशक कार्यक्रम की सफलता अवलबित होती है। यह शुरूवाला अगर नदारद हो जाय तो वह पीछेवाला भी लापता हो जायगा। यह भेद जानकर ही दुश्मन सामनेवाले पक्ष के विनाशक कार्यक्रम को बेकार करदेने के उद्देश्य से उसके इस विधायक कार्यक्रम की ही टॉग तोड़ देने के फेर मे रहता है। जहॉ हिंसक लड़ाई का यह हाल है वहॉ अहिसक लड़ाई तो विधायक कार्यक्रम के बिना हो ही कैसे सकती है? 'स्वराज्य' के मानी है 'सर्व-राज्य' अर्थात् हरएक का राज्य। इस प्रकार का स्वराज्य बिना सामुदायिक सहयोग के, बिना उत्पादक कार्यक्रम के, बिना सर्वोपयोगी राष्ट्रीय अनुशासन के कैसे प्राप्त किया जा सकता है? काग्रेस के तीस लाख सदस्य हे। अगर वे राष्ट्र के लिए रोज आधा घटा भी काते तो भी कितना बड़ा सगठन होगा? इसमे मुश्किल क्या है? वर्धा तहसील को ही लीजिए। इस तहसील मे काग्रेस के छः हजार सदस्य है। उनको अगर बीस टुकडियो मे बॉट दिया जाय तो हरएक टुकडी मे तीन सौ सदस्य होगे। हर एक टुकड़ी सालभर मे तीन सौ सदस्यो को कातना सिखाने का इरादा करले तो कोई मुश्किल काम नहीं है। सबसे बडी बाधा है हमारी अश्रद्धा। "क्या लोग सीखने के लिए तैयार होगे?" "क्या सीखने पर भी कातते रहेगे?" "कताई का हिसाब रखेंगे?" "उसे काग्रेस के पास भेजेगे?"—ऐसी अनेक शकाऍ हम किया करते है। इसके बदले हम काम शुरू कर दे तो एक-एक गॉठ अनुभव के बाद खुलने लगेगी।

कम-से-कम वर्धा तहसील में इस कार्यक्रम को अमल में लाने की चेष्टा की जा सकती है। कांग्रेस कमेटियों, चरखासंघ, ग्रामसुधार-केन्द्र, आश्रमों तथा अन्य संस्थाओं और गाँव के अनुभवी व्यक्तियों के सहयोग से यह काम हो सकता है। काम का बाकायदा हिसाब लिखा जाना चाहिए। समय-समय पर कातने की प्रगति की जानकारी भी लोगों को दी जानी चाहिए। कातना सिखाने के मानी यह हैं कि उसके साथ-साथ दूसरी भी कई बातें सिखायी जा सकती हैं और सिखायी जानी चाहिए। कार्यकर्त्ता इस सूचना पर विचार करें। बहुत मुश्किल नहीं मालूम होगी। लाभ-दायक होगी। करके देखिए। [७ : ५ : ४०

: २ :

सर्व-धर्म-समभाव

दो प्रश्न है—

(१) सर्वधर्म-समभाव का विकास करने के लिए क्या गांधी-सेवा-संघ की ओर से कुछ ऐसी पुस्तको के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है जिनमे भिन्न-भिन्न धर्मों का तुलनात्मक विचार हो ?

(२) क्या आश्रम तथा अन्य संस्थाओ मे भिन्न-भिन्न धर्मों के महापुरुषो के उत्सव मनाकर उन अवसरो पर उन धर्मों के विषय में ज्ञान देना वांछनीय नही है ?

१—अगर समभाव की दृष्टि से कोई ग्रन्थ-लेखक पुस्तक तैयार करे और गाधी-सेवा-सघ उचित समझे तो ऐसी कोई पुस्तक प्रकाशित करना ठीक होगा। पर प्रकाशन-विभाग खोलना मुझे पसन्द नहीं है। सच बात तो यह है कि संसार मे धर्मों के बीच से जो विषम भाव है वह उतना बुरा नहीं है। भारतवर्ष मे भी काफी विरोध बताया जाता है, लेकिन वह तो अखबारी चीज है। वास्तव मे विरोध है ही नहीं। हमारी कई हजार वर्षों की संस्कृति ने हम लोगो मे समभाव पैदा कर दिया है। देहात मे अब भी वह नज़र आता है। आजकल की नयी प्रवृत्ति ने विरोध जरूर पैदा कर दिया है, पर वह धार्मिक नही है। उसका स्वरूप आर्थिक है। धर्म का तो बहाना ले लिया जाता है। और अखबारो मे प्रकाशन द्वारा उसे महत्त्व मिल जाता है। अगर वही प्रकाशन का काम हम अपने हाथो मे ले ले तो उन्हींके शस्त्र का उपयोग करेगे। यह अच्छी नीति नहीं है। जिस शस्त्र

में प्रतिपक्षी निपुण है उसीका उपयोग करने से काम नहीं चलेगा। लेकिन इससे भी भयानक एक चीज़ और है। वह है सर्वधर्म-सम-अभाव। अभाव बढ रहा है, नास्तिकता बढ़ रही है। नास्तिकता से मेरा सकेत तात्त्विक नास्तिकता की ओर नहीं है। तात्त्विक नास्तिकता से मैं डरता नहीं। पर लिखने से काम नहीं पार पडेगा। हम लिखें भी तो कितने लोग पढेंगे? गन्दा साहित्य पढनेवाले तो हजारों हैं। अपने जीवन मे हम जिन चीजो को उतार सकेंगे उन्हींका प्रचार होगा। पहले यही हुआ करता था। छापेखाने को आये तो सौ वर्ष हुए। इस बीच किसी नये लेखक की लिखी कोई ऐसी पुस्तक निकली है जिसने तुलसीकृत रामायण और तुकाराम के अभगो की तरह जनता मे प्रवेश किया हो? प्रकाशन एक प्रचार का साधन तो है, पर धार्मिक प्रचार मे उसकी कीमत कम-से-कम है। जिस चीज को हम अपने श्रद्धेय पुरुषों के मुँह से सुनते हैं उसका अधिक असर होता है। प्रकाशन से विशेष लाभ की सभावना नहीं जान पडती।

२—जहाँ आश्रम है वहाँ सब धर्म के प्रवर्त्तकों के विषय में भी अवसर पर चर्चा कर सकते है। पर मेरी वृत्ति तो निर्गुण रही है। रामनवमी या कृष्णाष्टमी पर मैंने प्रसंगवशात् भाषण किये है, लेकिन उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया। जहाँ ऐसे उत्सव हो सकते हैं, उनके होते रहने में कोई हर्ज नहीं है। [५ : ३ : ६

: ३ :

स्वाध्याय की आवश्यकता

देहात मे जानेवाले हमारे कार्यकर्त्ताओ मे से अधिकाश उत्साही नवयुवक है। वे काम शुरू करते है उमग और श्रद्धा से, लेकिन उनका वह उत्साह अन्त तक नहीं टिकता। देहात मे काम करनेवाले एक भाई का खत मुझे मिला था। लिखा था—"मैं सफाई का काम करता तो हूँ, लेकिन पहले उसका जो असर गॉववालो पर होता था वह अब नही होता। इतना ही नही; बल्कि वे तो मानने लगे है कि इसको कही से तनख्वाह मिलती है इसीलिए यह सफाई का काम करता है।" अन्त मे उस भाई ने पूछा है कि क्या अब इस काम को छोड़कर दूसरा काम हाथ मे ले लिया जाय ?

यो कार्यकर्त्ताओ को अपने काम मे शकाऍ उत्पन्न होने लगती है और यह हाल सिर्फ कार्यकर्त्ताओ का नही, बडे-बड़े विद्वानो और नेताओ की भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्याय का अभाव। यहॉ पर 'स्वाध्याय' शब्द का जिस अर्थ मे मै उपयोग करता हूँ उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्याय का अर्थ मै यह नही करता कि एक किताब पढकर फेक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेने के बाद पहली भूल भी गये। इसको मै स्वाध्याय नही कहता। 'स्वाध्याय' के मानी है एक ऐसे विषय का अभ्यास जो सब विषयो और कार्यों का मूल है, जिसके ऊपर बाकी के सब विषयो का आधार है लेकिन जो खुद किसी दूसरे पर आश्रित नही। उस विषय मे दिनभर मे थोड़े समय के लिए एकाग्र होने की आवश्यकता है। अपने आप को और कातने आदि अपने सब कामो को उतने समय के लिए बिलकुल भूल जाना

चाहिए। अपने स्वार्थ के संसार में जितनी बाधाएँ और कठिनाइयाँ पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्य मे भी खडी हो सकती है और यह भी संसार का एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि यह परमार्थी काम होने की वजह से स्वार्थी संसार के झझटों से मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समय के लिए संसार से अलग होने की आवश्यकता होती है वैसे ही इस काम से भी अलग होने की आवश्यकता है; क्योंकि वास्तव मे तो वह काम केवल भावना का नहीं है, उसमें बुद्धि की भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियों मे भी होती है, लेकिन उनमें बुद्धि की न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एकदम अलग चीजें हों, सो नहीं है। इस विषय में मै एक उदाहरण दिया करता हूँ।

सूर्य की किरणो मे प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाश को तार्किक पृथक्करण से अलग-अलग कर सकते हैं। फिर भी जहाँ प्रकाश होता है वहाँ उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहाँ सच्ची बुद्धि है वहाँ सच्ची भावना है: और जहाँ सच्ची भावना है वहाँ सच्ची बुद्धि है ही। उनका तार्किक पृथक्करण हम कर सकते है, लेकिन दरअसल वे एकरूप ही है। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धि से कोई मतलब नहीं है, सेवा की इच्छा है और इसके लिए भावना का होना काफ़ी है, तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धि की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है। विद्वानों को भी ऐसे स्वाध्याय की जरूरत है। फिर कार्यकर्त्ता तो नम्र है न? उनको तो स्वाध्याय की विशेष रूप से जरूरत है। इस विषय में बहुत-से कार्यकर्त्ता सोचते हैं कि बीच-बीच में शहर मे जाकर पुस्तकालय में जाना, मित्रों से मिलना आदि बातें ग्राम-सेवा के लिए उपयोगी हैं, इनमें उत्साह बढ़ता है और उस उत्साह को लेकर फिर देहात में काम करने में अनुकूलता होती है। लेकिन वे नहीं जानते कि ज्ञान और उत्साह का स्थान शहर नहीं है। शहर ज्ञानियों का अड्डा नहीं है।

उपनिषद् मे एक कहानी है—एक राजा से किसी ने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्य मे है। उसको खोजने के लिए राजा ने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालने के बाद भी उनको वह विद्वान् नहीं मिला। तब राजा ने कहा, 'अरे, ब्राह्मणो को जहाँ खोजना चाहिए वहाँ जाकर ढूँढ़ो'। तब वे लोग जगल मे गये और वहाँ उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नही कि शहर मे कोई तपस्वी मिल ही नहीं सकता। संभव है, कभी-कभी शहर मे भी ऐसा मनुष्य मिल जाय, लेकिन वहाँ का वातावरण उसके अनुकूल नही। आत्मा का पोषण-रक्षण आजकल शहरो मे नही होता। देहात मे निसर्ग के साथ जो प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है वह उत्साह के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शहर में निसर्ग से भेट कहाँ? जंगल मे तो नदी, पहाड, जमीन सब चीजे वही सामने दिखाई देती है, और जगल के पास तो देहात ही होते है, शहर नही। सिर्फ उत्साह लेने के लिए ग्राम-सेवको को शहर मे आना पडे, इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनो के लिए देहात मे जाकर कार्यकर्त्ताओ से मिलते रहे तो अधिक अच्छा हो। असल मे उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उसके चिन्तन के लिए कम-से-कम रोज एकाध घटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खींचनेवाला तस्वीर को देखने के लिए दूर जाता है, और वहाँ से उसको तस्वीर मे जो दोष दिखाई देते है उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पडती है, लेकिन उसके दोष देखने के लिए अलग हट जाना पडता है। इसी प्रकार सेवा करने के लिए पास तो आना ही पडेगा। लेकिन कार्य को देखने के लिए खुद को अलग कर लेने की जरूरत भी है।

यही स्वाध्याय का उपयोग है। अपने को और अपने कार्य को बिल्कुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमे से उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धि की शुद्धि होती है।

: ४ :

दरिद्रों से तन्मयता

दो प्रश्न है—

(१) हममें से जो लोग आजतक तो मध्यमवर्ग का जीवन बिताते आये हैं परन्तु अब दरिद्रवर्ग से एकरूप होना चाहते हैं, वे किस क्रम से अपने जीवन में परिवर्तन करें जिससे तीन चार वर्ष में वे निश्चित रूप में उन दरिद्रों से एकरूप हो जायँ ?

(२) मध्यम अथवा उच्चवर्ग के लोग दरिद्रों से अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं ? क्या इस प्रकार का कोई नियम बनाना ठीक होगा कि संघ के सदस्य कोई ऐसा उपाय करें जिससे उनके खर्च में से हर १५) में से ४ रुपये दरिद्रों के घर सीधे पहुंच जायँ ?

पहले तो हमें यह समझना है कि हम मध्यम वर्ग और उच्चवर्ग के माने जानेवाले 'प्राणी' हैं, अर्थात् हम प्राणवान् बनना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके से बनना चाहते हैं। पानी कहींका भी क्यो न हो, समुद्र की ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्र तक नहीं पहुँच सकता, लेकिन चाहे वह मेरा नहाया हुआ हो, या गंगाजी का, दोनों की गति समुद्र की ओर है। दोनों निम्नगतिक—नम्र हैं। एक जगह थोड़ा पानी, उसकी ताकत कम होने के कारण, भले ही बीच में रुक जाय, और किसी छोटे वृक्ष को जीवन प्रदान करने में उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य—परन्तु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्रतक पहुँचने का भाग्य तो गंगा के समान महानदियों को ही प्राप्त

होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणियाँ पहाड और टीले के समान है। यहाँ जिसकी हमे सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्र तक सब न भी पहुँच सके, तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि वहाँतक पहुँचे। अर्थात् जहाँतक पहुँच पायें उतने ही से सन्तोष न मान ले। हमें जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवन की दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगतिक—नम्र बनना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नही बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो तो भी वे मेरे पास नही है और न मै चाहता ही हूँ कि ऐसे नियम बनाने का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पाँच वर्षों मे उच्च और मध्यम श्रेणी के लोगो को गरीब बना देने की कोई विधि नहीं है। हमे गरीबो की सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर शक्तिभर काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है, इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थ की गुजाइश है। पिछले सोलह वर्षों से मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मै गरीबो से एकरूप हो जाऊँ, लेकिन मैं नही समझता कि गरीबो का जीवन व्यतीत करने मे मै सफल हुआ हूँ। पर इसका उपाय क्या है? मुझे इसका कोई दुःख भी नही है। मेरे लिए तो प्राप्ति के आनन्द की अपेक्षा प्रयत्न का आनन्द बढ़कर है।

शिव की उपासना करनी हो तो शिव बनो, ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबो की सेवा करने के लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमे विवेक की जरूरत है। इसके मानी यह नही कि हम उनके जीवन की बुराइयों को भी अपना ले। वे जैसे दरिद्रनारायण है वैसे मूर्ख-नारायण भी तो है। क्या हम भी उनकी सेवा के लिए मूर्ख बने? शिव बनने का मतलब यह नही है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गयी। उनके जैसा बनकर हमे अपनी बुद्धि नही खोनी चाहिए।

देहात मे किसान धूप मे काम करते हैं। लोग कहते है, "बेचारे

किसानो को दिनभर धूप मे काम करना पडता है।" अरे, धूप मे और खुले आकाश के नीचे काम करना, यही तो उनका वैभव नचा रह गया है ! क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं ? धूपमे तो विटामिन काफी है। अगर हो सके तो हम भी उन्हीं की भाँति करना शुरू कर दें। पर वे जो रात मे मकानो को सन्दूक बनाकर उनमे अपने आपको बन्द करके सोते हैं उसकी नक़ल हमे नहीं करनी चाहिए। हम काफी कपड़े रक्खे। उनसे भी हम कहे कि रात मे आकाश के नीचे सोओ और नक्षत्रों का वैभव लूटो। हम उनके प्रकाश का अनुकरण करें, उनके अंधकार का नहीं। उनके पास अगर पूरे कपडे नहीं है तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दें कि वे भी अपने लिए काफ़ी कपड़े बना लें ! उन्हें महीनों तक तरकारी नहीं मिलतीं, दूध नहीं मिलता। क्या हम भी साग-भाजी और दूध छोड दें ? यह विचार ठीक नही है। एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमे दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जायें ? इसमें दया है, सहानुभूति भी है। लेकिन वह दया और सहानुभूति किस काम की जिसमें तारक-बुद्धि का अभाव हो ? सच्ची कृपा में तारक-शक्ति होनी चाहिए। तुलसीदासजी ने उसे 'कृपालु अलायक' कहा है।

हमें अपने जीवन की खराबियो को निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार उनकी बुराइयों को दूर कर उनका जीवन भी पूर्ण बनाने में उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है जिसमें रस या उत्साह है। भोग या विलासिता को उसमे स्थान नहीं। हम दरिद्रो-जैसे बनें या पूर्ण जीवन की ओर बढ़ें ? लोग कहते हैं, ऐसा करने से हमारा जीवन त्यागमय नहीं दिखाई देगा। पर हमें इस बात का विचार नहीं करना है कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा। हम परिणाम-परायणता को छोड़ देना चाहिए। हमारी जीवन-पद्धति उनसे भिन्न है। हमें दूध मिलता है, उन्हें नहीं मिलता; इस

बात का हमें दुःख हो तो वह उचित ही है। यह दुःख-बीज तो हमारी हृदय-भूमि मे रहना ही चाहिए। वह हमारी उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख होगा। अगर किसी चमत्कार से कल ही हमे स्वराज्य मिल जाय तो उसमे कोई आनन्द नही। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्ति से तारक-बुद्धि का प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इच भी आगे बढ सके तो हम स्वराज्य के नज़दीक पहुँचेंगे। जैसे नदियाँ समुद्र की ओर बहती है उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबो की ओर बहती रहे, इसीमे कल्याण है।

: ५ :

तरणोपाय ?

वैधानिक आन्दोलन करना, जनता की शिकायतें सरकार के सामने रखना और मीठे-मीठे ढंग से उन शिकायतों का इलाज करा लेना और इतना करके संतोष मान लेना—शुरू शुरू में कांग्रेस का कार्यक्रम था। लेकिन न तो शिकायतें दूर होती थीं और न संतोष ही मिलता था। पुश्त भर के अनुभव के बाद कांग्रेस इस नतीजे पर पहुँची कि स्वराज्य के बिना चारा नहीं। यह अनुभव-सन्देश तरुणो को सुनाकर पितामह दादाभाई निवृत्त हो गये।

धुन के पक्के तरुण काम में जुट गये। गुप्त षड्यन्त्र, सरकारी अहल-कारों का खून और सरकार को डराकर स्वराज्य प्राप्त करने का अपनी दृष्टि से स्वावलंबी प्रयोग उन्होंने शुरू कर दिया। आन्दोलन के लिए पैसे की जरूरत होती ही है। वह कहाँ से लाया जाय ? यह मार्ग परावलंबी था। इसके अलावा अराजक तरुणों के लिए वह खुला भी नहीं था। युवकों ने डाके डालकर पैसे कमाने के स्वावलंबी मार्ग का अवलम्बन किया। शुरू में इन डाकुओं की—जिनके घरों में डकैती हुई उन लोगों ने तो नहीं, पर जो सुरक्षित थे उन लोगों ने—थोड़ी बहुत प्रशंसा भी की। इसलिए स्वार्थी डाकू भी उनके लिए इस अधिक सुसाध्य साधन का प्रयोग करने लगे। जो भजन (?) जैसी उज्ज्वल संस्था पर भी कब्जा कर सके उनके लिए डकैती हस्तगत करना मुश्किल तो था ही नहीं। फलतः दोनों प्रकार की डकैतियों से जनता पीड़ित हुई। उधर

सरकार ने भी दमन-नीति अख्तियार की। तरुणो के लिए जो सहानुभूति थी उसका स्रोत सूखने लगा। इतने मे समझदार अहिंसावादी आये। वे कहने लगे कि पुराना वैधानिक आन्दोलन का मार्ग जिस प्रकार निरर्थक था उसी प्रकार यह गुप्त साजिशो का रास्ता भी बेकार है। इधर-उधर दो-चार खून करने से क्या फायदा ? हिंसा भी कारगर होने के लिए सगठित होनी चाहिए। असगठित, अव्यवस्थित, लुक-छिपकर की हुई हिंसा किसी काम की नही। और सगठित हिसा हमारे बस की बात नही है। इसलिए हमे अहिसा से ही प्रतीकार करना चाहिए। गाधीजी हमे रास्ता दिखाने के लिए समर्थ है। उनके मार्गदर्शन से लाभ उठाकर हमे जनता की प्रतीकार-शक्ति सगठित करनी चाहिए। जनता की शक्ति संगठित होने पर उसकी बदौलत सपूर्ण नही तो थोड़ी बहुत सत्ता हमारे हाथो मे अवश्य आयेगी। यह सत्ता आने पर आगे का विचार कर लेंगे।

अवश्यही, यह अहिंसा नीति-रूप मे थी, जो हमारे युवको को भी गुप्त षड्यत्रो की असफलता के और दक्षिण अफ्रीका मे गाधीजी की सफलता के अनुभव के कारण कुछ-कुछ जॅची। जो लोग अपनी परछाईं तक से डरते थे उनको छोडकर सारा-का-सारा राष्ट्र एकत्र होकर अहिसक प्रतीकार के इस नये आन्दोलन मे शामिल हुआ। गाधीजी की नैष्ठिक अहिंसा को जोड़ने-घटाने से जितनी शक्ति प्रकट हो सकी उसी परिमाण मे उसका परिणाम भी निकला और संगठित हिंसा की अव्यवहार्यता अन्वय-व्यतिरेक से सर्वमान्य हुई।

इतने मे यूरोप मे महायुद्ध की आग भडकी। शौर्य, साधन-सम्पत्ति, संगठन, साहस आदि गुणो के लिए प्रसिद्ध शक्तिशाली राष्ट्र पॉच-पॉच, दस-दस, दिनों में अपनी स्वतत्रता गॅवा बैठे। बीस साल पहले वैभव के शिखर पर पहुॅचा हुआ फ्रास-जैसा राष्ट्र भी तीस लाख की फौज खडी कर, इंग्लैण्ड जैसे राष्ट्र का सहयोग प्राप्त कर, और शूरता की पराकाष्ठा कर, गुलाम-से-

भी-गुलाम हो गया। जिन हाथों ने पिछले महायुद्ध मे फ्रॉस को विजय प्राप्त करादी, शरण-पत्र लिखने के लिए भी वही हाथ काम आये।

हमारी ऑखे खुल गयी। असंगठित हिंसा तो बेकार साबित हो ही चुकी थी। लेकिन कार्य-समिति कहती है कि अब यह स्पष्ट हो गया कि चाहे जितने बडे पैमाने पर की गयी संगठित हिंसा भी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए बेकार है।

असंगठित हिंसा और सुसंगठित हिंसा—नहीं, नहीं अतिसुसंगठित हिंसा भी—दोनों या तीनो बेकार सिद्ध हो चुकी हैं। तब क्या किया जाय

गॉधीजी कहते है—"अहिंसा के प्रति अपनी निष्ठा दृढ़ करो।"

हम कहते हैं—"हम अभी तैयार नहीं है।"

"तो तैयारी करो।"

"अवसर बडा विकट है। नाजुक वक्त आ गया है। हम दुर्बल मनुष्य हैं। इसलिए वैसी तैयारी की आज तुरन्त गुंजाइश नहीं है।"

"तो फिर घडीभर के लिए स्वस्थ (शात) रहो। मिल्टन कहता जो स्वस्थ (शात) रहकर प्रतीक्षा करते हैं वे भी सेवा करते हैं।"

"हॉ, कहते तो और कई लोग भी ऐसा ही हैं; लेकिन हम जिम्मेदारी है। हमे कुछ-न-कुछ हाथ-पैर हिलाना ही चाहिए।"

पानी मे तैरनेवाला तर जाता है। पानी पर स्वस्थ (शात) लेटनेवाला भी पानी की सतह पर रहता है। केवल हाथ-पैर हिलानेवाला तह में पहुँच जाता है। केवल "हम कुछ-न-कुछ कर जायँगे" से क्या होनेवाला है? [१ : ७ :

: ६ :

व्यवहार में जीवन-वेतन

हर बात मे मै गणित के अनुसार चलता हूँ। शिक्षा-समिति (हिन्दुस्तानी तालीमी सघ) के पाठ्यक्रम मे कातने-धुनने की जो योजना मैंने दी है उसे देखकर किशोरलालभाई-जैसे चौकन्ने सज्जन ने भी कहा कि तुमने गति वगैरह का जो हिसाब रखा है उसपर कोई आक्षेप नही किया जा सकता। गणित का इस प्रकार प्रयोग करनेवाला होने पर भी मै ऐसा मानता हूँ कि कुछ चीज़ो के 'मूले कुठाराघातः' करके उन्हे तोड़ डालना चाहिए। वहाँ 'धीरे-धीरे', 'क्रमशः' आदि शब्द-प्रयोग उपयुक्त नही होता। मैं अपने जीवन मे ऐसा ही करता हूँ। १९१६ में मैंने घर छोड़ा। यो तो घर की परिस्थिति कुछ ऐसी न थी कि मेरा वहाँ रहना असभव हो जाय। माँ तो मुझे ऐसी मिली थी कि जिसकी याद मुझे आज भी नित्य आती है। पिताजी अभी जीवित है। उनकी उद्योगशीलता, अभ्यासवृत्ति, साफ़-सुथरापन, सज्जनता आदि गुण सभीको अनुकरणीय लगेंगे। लेकिन यह सब होते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि मै अब इस घर मे नहीं समा सकता। जब घर छोड़ा तब 'इन्टरमीडिएट' मे था। कितने ही मित्रो ने कहा—"दो ही साल और लगेगे। बी० ए० करके डिग्री लेकर जाओ।" उन सबके लिए एक ही जवाब था कि "विचार करने का मेरा यह ढंग नहीं है।" घर छोड़ने के पहले भिन्न-भिन्न विषयो के सर्टिफिकेट लेकर चूल्हे के पास बैठ गया और तापते-तापते उन्हे जलाने लगा। माँ ने पूछा, "क्या कर रहा है?" मैने कहा, "सर्टिफिकेट जला रहा हूँ।"

उसने पूछा, 'क्यो ?' मैंने कहा, "उनकी मुझे क्या जरूरत ?" माँ ने कहा, "अरे, जरूरत न हो तो भी पड़े रहे तो क्या हर्ज है ? जलाता क्यों है ?" "पडे रहे तो क्या हर्ज है ?" इन शब्दो की तह मे यह भावना छिपी हुई है कि "आगे कभी उनका उपयोग करने की जरूरत पड़े तो ?" इस घटना की याद मुझे पारसाल आयी। सरकार ने मैट्रिक-पास को मत-दान का अधिकार दिया है। मुझे वह अधिकार मिल सकता है। लेकिन मेरे पास सर्टिफिकेट कहाँ है ? एकाध रुपया खर्चकर दरख्वास्त करूँ तो शायद उसकी नकल मिल जाय; पर मैंने कहा कि "क्या मतलब उस सर्टिफिकेट से ? पैंतीस करोड लोगो मे से तीन करोड को मत-दान का अधिकार मिला है। बाकी बत्तीस करोड को नहीं मिला है। मैं उन्हींके साथ क्यो न रहूँ ?"

सिंहगढ़ की घटना

मुझे मराठो के इतिहास की एक घटना याद आ रही है। गोह के कमन्द की मदद से मराठे सिंहगढ पर चढ़ गये। लड़ाई मे तानाजी मारा गया। उसके मारे जाते ही मराठों की सेना हिम्मत हारकर भागने लगी और जिस रस्से के बल चढकर वह ऊपर आयी थी उसीके सहारे नीचे उतरने का इरादा करने लगी। तब तानाजी के छोटे भाई सूर्याजी ने उस रस्से को काट डाला और चिल्लाकर कहने लगा, "मराठो, भागते कहाँ हो ? वह रस्सा तो मैंने पहले ही काट डाला है।" यह सुनते ही मराठों की फौज ने सोचा कि चाहे लड़ें या भागें, मरना तो निश्चित है। यह जानकर मराठा सेना ने फिर हिम्मत की और लड़ाई में जीतकर सिंह-गढ फतह किया। यह जो 'रस्सा काट देने की नीति' है उसका उपयोग कहीं-कहीं करना ही पड़ता है। मेरे विचार इस ढंग के होने के कारण कुछ लोगों को वे अव्यवहार्य जान पड़ते हैं। वे मुझसे कहते हैं, "तुम्हारे विचार तो अच्छे हैं। लेकिन तुम्हें आज से सौ बरस बाद पैदा होना

चाहिए था। आज का समाज तुम्हारे विचारो पर अमल नहीं करेगा।" इसके विपरीत कुछ लोगो को मेरे विचार पाँच-सात सौ साल पिछड़े प्रतीत होते है। वे कहते है कि साधु-सन्तो का साहित्य पढ़-पढकर इसका दिमाग उसीसे भर गया है। वर्तमान समाज के लिए इन विचारो का कोई उपयोग नहीं।

सौदे की कला

जब मै पौनार मे गणपतराव के यहाँ रहता था तो उनके यहाँ की एक स्त्री मक्खन बेचने वर्धा आयी। शाम तक उसे कोई गाहक न मिला, क्योकि वर्धा के बुद्धिमान लोगो ने भाव सस्ता करने का भी एक शास्त्र ढूढ निकाला है। यथासभव देर करके बाज़ार जाना चाहिए। उस वक्त चीजें सस्ती मिलती है। देहातवालो को लौटने की जल्दी रहती है, इसलिए वे औने-पौने अपनी चीजे बेच देते है। बिलकुल शाम को एक भला आदमी आया। उस बेचारी ने भाव दोपहर की अपेक्षा दो-तीन आने कम ही बतलाया। तो भी वह भला आदमी मोल-मुलाई ही करता रहा। आखिर उस स्त्री ने सोचा कि अब पाँच मील इसे ढोकर वापस ले जाने से अच्छा है 'जोही हाथ सोई साथ।' उसने आधे दाम मे वह मक्खन बेच दिया।

आज खरीदार और विक्रेता इकट्ठे होते ही सोचने लगते है कि सामने वाला मुझे फँसाने पर तुला है। अतः बेचनेवाला जो भी कीमत कहे खरीदार उससे कुछ कम ही मे माँगेगा। माना जाता है कि जो कम-से-कम दाम मे चीज ले आये वह बडा होशियार है। लेकिन अबतक हम यह नहीं समझ पाये हैं कि पैसे गँवाकर हृदय बचाने मे भी कुछ चतुराई है। जबतक कम-से-कम पैसे देने मे चतुराई मानी जाती है तबतक गाँधी जी की बात समझ में नहीं आ सकती और न अहिसा का प्रचार ही हो सकता है।

युद्ध टालने का सच्चा उपाय

तरकीबें सोची जा रही हैं कि कलकत्ते में जापानी बम बरसायें तो हम आत्म-रक्षा किस तरह करें, लेकिन इनसे क्या होनेवाला है ? बम तो बरसनेवाले ही हैं। आज न सही दस साल बाद बरसेंगे। यदि एक ओर हम जापान का सस्ता माल खरीद कर उसे मदद करते रहेंगे और दूसरी ओर उसके बम न गिरें इसकी कोशिश करते रहेंगे, तो वे बम कैसे टलेंगे ? बम या युद्ध टालने का वास्तविक उपाय तो यही है कि हम अपनी आवश्यकता की चीजें अपने आस-पास तैयार करायें और उनके उचित दाम दें।

हिसाब का सही तरीक़ा

एक बार एक सभा में मैंने पूछा कि "हिन्दुस्तान की औसत आयु-मर्यादा इक्कीस साल और इंग्लैंड की बयालीस साल है। तो बताइए इंग्लैंड का मनुष्य हिन्दुस्तानी की अपेक्षा कितने गुना ज्यादा जीता है ?" छोटे-छोटे बालकों ने ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोगों ने भी जवाब दिया कि "दुगुना जीता है।" मैंने उन सब को फ़ेल कर दिया। मैंने कहा कि "इक्कीस दूने बयालीस होते हैं, यह सही है। लेकिन हर एक आदमी की उम्र के लड़कपन के पहले चौदह साल छोड़ देने चाहिएँ, क्योंकि उनसे समाज को कोई फायदा नहीं होता। ये चौदह साल यदि हम छोड़ दें तो हिन्दुस्तान का आदमी सात साल और इंग्लैंड का अट्ठाईस साल जीता है। यानी हिन्दुस्तानी की अपेक्षा इंग्लैंड का मनुष्य दुगुना नहीं चौगुना जीता है।"

यही नियम मजदूरी में भी घटित होता है। समाज में यदि सभी लोग उद्योगी और परस्परावलम्बी होते तो चीज़ों के भाव चाहे जो होने से या आठ आने की जगह दो आने मजदूरी होने से भी कोई फ़र्क़ न पड़ता। तेली का तेल जुलाहा खरीदता है, उसका कपड़ा तेली खरीदता

है, दोनो किसान से अनाज खरीदते है, किसान दोनो से तेल या कपड़ा खरीदता है। उस दशा मे हम अनाज का भाव रुपये के चार सेर समझे या दस सेर समझे, क्या फर्क पडेगा ? रोज़ाना मजदूरी दो आने कहे या आठ आने, क्या फर्क होगा ? क्योकि, जब सभी उद्योगी और परस्परावलम्बी है तो एक चीज का जो भाव होगा उसी हिसाब से दूसरी चीजो के भाव भी लगाये जायेगे। महँगे दाम लगायेगे तो व्यवहार मे बडे-बडे सिक्के बरतने होगे, और सस्ते दाम लगायेगे तो सस्ते सिक्को की जरूरत होगी। महँगे भावो के लिए रुपये लेकर बाजार मे जाना होगा। सस्ते भाव होगे तो कौड़ियो से लेन-देन का व्यवहार हो सकेगा। लेकिन इससे कोई फ़र्क नहीं पडता। मगर आज समाज मे एक ऐसा वर्ग है कि जो न तेल पेरता है, न कपड़ा बुनता है, न अनाज पैदा करता है और न दूसरा कोई उत्पादक श्रम करता है। हम अगर चीज़ो के दाम बढ़ादे तो एक सेर भटे के बदले आज इस वर्ग की ओर से हमे चार पैसे मिलते होगे तो कल दो या चार आने मिलने लगेगे। भाव या मज़दूरी बढ़ाने का यही लाभ या उपयोग है। लकिन यह वर्ग हर हालत मे बहुत छोटा ही रहेगा। इसलिए अगर हम सबकी मजदूरी आठ आने कर दें तो वास्तव मे वह चौगुनी न पडकर डेढ गुनी या दुगुनी ही पडेगी।

आठ आने मज़दूरी के सिद्धान्त का अमल

लेकिन आज आठ आने मजदूरी के सिद्धात को कोई ग्रहण ही नहीं करता। उसे स्वीकार करने का मतलब है कि हमे अपनी सारी जीवनोपयोगी चीज़ो के दाम मज़दूरी के हिसाब से लगाने चाहिए। तब पता चलेगा कि ढाई-तीन सौ साल पहले का उस बेवकूफ तुकाराम का अर्थशास्त्र आज १९३८ या १९३९ के आधुनिकतम अर्थशास्त्र से मेल खाता है। (?) हम एक ऐसी जमात बनाना चाहते हैं जो मज़दूरी का उपर्युक्त सिद्धात अमल मे लाये। हम अगर एक घड़ा खरीदने जायें तो

कुम्हारिन उसके दाम दो पैसे बतलायेगी। हमें चाहिए कि हम घड़ा बनाने में लगा हुआ वक्त वगैरह पूछकर उससे कहें कि "माँ, मैं तुझे इस घड़े के दो आने दूँगा। क्योंकि इसके लिए तुझे इतने घंटे खर्च करने पड़े हैं और उन घंटों की इतनी मज़दूरी के हिसाब से इतने दाम होते हैं।" आप दो आने देकर वह मटका खरीदेंगे तो मटकेवाली समझेगी कि यह कोई बेवकूफ़ आदमी जान पड़ता है। दूसरी बार अगर आप एक झाड़ू लेने जायेंगे तो वह तुरन्त उसके दाम छः आने बतलायेगी। तब आप उससे सारा हिसाब पूछकर समझायेंगे कि झाड़ू के दाम छः आने नहीं बल्कि दो या तीन आने हैं। तब वह स्त्री समझ जायेगी कि यह आदमी बेवकूफ नहीं है, इसे अक्ल है और यह किसी-न-किसी हिसाब के अनुसार चलता है।

ठगा जाना एक बात है और विचारपूर्वक मौजूदा बाज़ार-भाव की अपेक्षा अधिक, लेकिन वस्तुतः उचित, कीमत देना बिलकुल दूसरी बात है। यह उचित कीमत ठहराने के लिए हमें भिन्न-भिन्न धन्धों का अध्ययन कर या उन धन्धों में पड़े हुए लोगों से प्रेम का सम्बन्ध कायम करके अलग-अलग चीज़ों का एक समय-पत्रक बनाना होगा। उतने समय की उचित मजदूरी तय करनी होगी और उसमें कच्चे माल की कीमत जोड़कर जो दाम आये उतनी उस चीज की कीमत समझनी चाहिए। यदि हम ऐसी कीमत नहीं देते तो अहिंसा का पालन नहीं करते।

मज़दूरों का नया दान-शास्त्र

अब, यह मजदूरी सब लोग आज नहीं देंगे। यदि मुमकिन हो तो हम पूरी मज़दूरी का माल बेचनेवाली एक एजेन्सी खोल सकते हैं। अगर वह सारा माल बिकवा दे तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता; लेकिन अगर यह मुमकिन न हो तो मज़दूरों को आज की तरह उसी पुराने भाव में अपना माल बेचना पड़ेगा। ऐसी हालत में उनके सामने दो रास्ते हैं।

एक तो यह कि वे कम दामों मे अपना माल बेचने से इन्कार कर दे। लेकिन यह आज असम्भव है। दूसरा रास्ता यह है कि मजदूरो मे ऐसी भावना—हिसाबी वृत्ति निर्माण हो कि वे कहे कि "इस चीज की उचित कीमत इतनी है। परन्तु यह धनवान मनुष्य वह कीमत नहीं देता। तो जितनी कीमत उसने दी है उतनी जमा करके बाकी के पैसे मैंने उसे दान मे दिये, ऐसा मै मान लूँगा।" धनाढ्य लोग गरीबो को जो दे वही दान है या केवन धनाढ्य ही दान कर सकते है, यह धारणा क्यो हो? जो लोग सदा दान दे रहे है उन्हे इस बात का ज्ञान करा देना चाहिए कि वे दान दे रहे है।

समाजवाद का मंत्र

पूरी मजदूरी के सिवाय समाजवाद या साम्यवाद का दूसरा कोई इलाज नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि इतना रक्तपात इस देश मे होगा जितना कि रूस या दूसरे किसी देश मे न हुआ होगा। मैंने एक व्याख्यान मे—पौनार की खादी-यात्रा मे—साक्षात् महात्मा गाधी के सामने वेद का यह मत्र "मोघमन्न विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वधइत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" पढा जो स्पष्ट शब्दो मे कहता है कि जो धनिक अपने आसपास के लोगो की पर्वाह न करते हुए धन इकट्ठा करता है वह धन प्राप्त करने के बदले अपना वध प्राप्त करता है। 'वध' और 'मृत्यु' मे यद्यपि सायणाचार्य कोई भेद नहीं करते तथापि मेरी दृष्टि से उन दोनो का भेद अत्यत स्पष्ट है। इस मत्र को आप समाजवाद का मत्र कह सकते है। मजदूरों या श्रमजीवियो के तमाम प्रश्नों का पूरी मजदूरी ही एकमात्र अहिंसक हल है।

क्षेत्रनिष्ठ अर्थ-शास्त्र

अब मै आज की खास बात पर आता हूँ। ग्राम-सेवा-मण्डल इस तहसील मे खादी-उत्पत्ति का प्रयत्न ज्यादा जोरो से करनेवाला है। "जिस माल पर चरखा-संघ को कुछ नफा मिल जाता है वह खासकर वैसा माल तैयार करना चाहता है। चरखा-सघ का काम कई वर्ष से चल रहा है।

इसलिए यद्यपि वह आज चार आने मजदूरी देने को तैयार है तो भी हम तो तीन आने देकर ही खादी बनवायेंगे।" आदि दलीलें देकर काम करना चाहता है। मैं कहता हूँ कि चरखा-संघ सावली में तो मजदूरी 'कलदार' मे देता है। लेकिन निजाम राज्य मे 'हाली' (निजाम राज्य का सिक्का) मे देता है। इसका समर्थन या इसके पीछे जो विचारधारा है उसे मैं समझ सकता हूँ। 'कलदार' तीन आने में सावली में जितना सुख मिल सकता है उतना ही सुख 'हाली' तीन आने में मुगलाई (निज़ाम राज्य) में मिल सकता है, क्योंकि वहाँ गरीबी ज़्यादा है। यह विचार-धारा इस प्रकार की है। उसी विचार-धारा के अनुसार सावली की अपेक्षा वर्धा में जीवन-निर्वाह अधिक महँगा है। इसलिए यहाँ सावली से ज़्यादा मज़दूरी देनी चाहिए। सावली मे तीन आने देते हैं, इसलिए यहाँ भी तीन ही आने देते हैं, ऐसा कहने से काम न चलेगा।

महमूद और फ़िर्दौसी का क़िस्सा

अगर हम ऐसा करेंगे तो फिर वही महमूद और फ़िर्दौसीवाला क़िस्सा चरितार्थ होगा। महमूद ने शाहनामे की प्रत्येक पंक्ति के लिए एक दीनार देने का वादा किया। लेकिन जब उसने यह देखा कि फ़िर्दौसी का लिखा हुआ शाहनामा तो बड़ा भारी ग्रन्थ है तब इतने सोने के दीनार देने की उसकी हिम्मत न हुई। इसलिए उसने सोने के दीनारों की जगह चाँदी के दीनार दिये।

खादीधारी कम हो जाने का डर

मैं इधर दस या बारह वर्ष से खादी के विषय में जिस तीव्रता से विचार और आचरण करता हूँ उतना बहुत ही थोड़े लोग करते होंगे। आज भी खादी का रहस्य कुछ लोगों की समझ में नहीं आया है। पिछली सभा में यहाँ का खादी-भण्डार उठा देने के पक्ष में मैंने जो राय दी थी वह दूसरों की भिन्न राय होते हुए भी आजतक कायम है। उस वक्त एक दलील यह

भी पेश की गयी थी कि यदि हम यहाँ से खादी-भंडार उठा लेगे तो खादी-धारियो की सख्या बढ़ेगी नहीं बल्कि कम हो जायेगी। मै कहता हूँ कि खादीधारी कम होगे या नही यह आप क्यो देखते है? आपकी नीति सही है या नही यह क्यो नहीं देखते? शिक्षा-समिति ने जो योजना बनायी है वह साल दो साल मे व्यवहार मे लायी जायेगी। तब वर्धा तहसील की दो लाख जनसख्या मे से स्कूल मे जाने लायक दसवॉ हिस्सा यानी बीस हज़ार लड़के निकलेगे। अगर ये लड़के तीन घटे कातकर प्रौढ़ मनुष्य के काम का एक तिहाई यानी करीब एक घटे का काम करे तो भी बीस हज़ार लोगों को स्वावलम्बी बना सकने भर खादी तैयार होगी। तजवीज यह है कि यह सारी खादी सरकार खरीदे। पर 'सरकार खरीदे' इन शब्दो का मतलब यही हो सकता है कि 'लोग खरीदें'। क्योकि सरकार आखिर कितनी जगह की खादी खरीद सकती है? इसलिए अत मे तो उसे लोग ही खरीदेगे। इसलिए स्वाभाविक रूप से बीस हज़ार खादीधारी होगे। इस तरह खादीधारी कम हो जायेंगे यह डर ठीक नहीं है।

हमारा उत्तरदायित्व

खादी के पीछे जो सही विचार-धारा है उसे समझाने की जिम्मेदारी हमारी है। यह काम और कौन करेगा? इतने बडे तामिलनाड प्रान्त मे चरखा-सघ के 'सूत-सदस्य' सिर्फ सात-आठ हैं। चरखा-सघ के कर्मचारियो का इस गिनती मे शुमार नहीं है। जहॉ यह हालत है वहॉ खादी के विषय मे कौन विचार करने जायगा? नियमित रूप से सूत कातनेवाले और सूत देनेवाले लोगो की ज़रूरत है। लोग कहते है कि हमे कातने के लिए फुरसत नहीं। हम सूत कातना नही चाहते और मजदूरी के रूप मे ज्यादा पैसा भी देना नहीं चाहते। फिर अहिंसा का प्रचार कैसे हो? राजाजी ने हाल ही मे मद्रास-सरकार की ओर से खादी-प्रचार के लिए दो लाख रुपये दिये है। लेकिन इतने से क्या होनेवाला है? पहले की सरकार भी गृह-

उद्योग के नाम पर क्या ऐसी मदद किसी हालत में न देती ? आज सरकार चारों तरफ से परेशान की जा रही है। इधर जापान का डर है। उधर यूरोप में भीषण लड़ाई का डर है। ऐसी परिस्थिति में यह कौन कह सकता है कि हमें खुश करने के लिए पुरानी सरकार भी पैसे न देती ? लेकिन ऐसे पैसों से खादी का असली काम पूरा नहीं होने का।

खादी के पीछे जो विचारधारा है उसे समाज के सामने कार्यरूप में उपस्थित करने की जिम्मेदारी हमारी है। इसलिए ग्रामसेवा-मण्डल को मेरी यह सलाह है कि वह आठ घंटे की आठ आने मजदूरी देकर खादी बनवाये। कम-से-कम इतना तो करे कि जिस परिमाण में यहाँ (वर्धा) का जीवन-निर्वाह सावली से महँगा हो उस परिमाण में ज़्यादा मजदूरी देकर खादी बनवाये। इस खादी की खपत अगर न हो तो मैं खादीधारियों से साफ़-साफ़ पूछूँगा कि आप पुतलीघर का कपड़ा क्यों नहीं पहनते ? वह भी स्वदेशी तो है। समाजवादियों के सिद्धान्त के अनुसार उसपर राष्ट्र का नियन्त्रण हो इतना काफी है। एकाध आदमी पूरा जीवित या पूरा मृत हो, यह मैं समझ सकता हूँ। लेकिन पौन जिन्दा और पाव मरा हुआ है, यह कथन मेरी समझ में नहीं आ सकता। या तो वह पूरा जिन्दा होगा या मरा हुआ। इसलिए अगर खादी बरतना है तो उसके मूल में जो भावनाएँ हैं, जो विचार हैं उन सबको ग्रहण कर उसे धारण करना चाहिए। जो खादी को इस तरह अंगीकार करें वे ही दरअसल खादीधारी हैं। आज तक हम खादी शब्द की व्याख्या 'हाथ का कता और हाथ का बुना कपड़ा' इतना ही करते आये हैं, अब उसमें 'पूरी मजदूरी देकर बनवाया हुआ' ये शब्द और जोड़ देने चाहिएँ।

: ७ :

श्रमजीविका

(ब्रेड लेबर)

"ब्रेड लेबर" के मानी है "रोटी के लिए मज़दूरी।" यह शब्द आपमे से कई लोगों ने नया ही सुना होगा। लेकिन यह नया नही है। टॉल्स्टॉय ने इस शब्द का उपयोग किया है। उसने भी यह शब्द बॉन्दरेसा नामक एक लेखक के निबन्धो से लिया और अपनी उत्तम लेखन-शैली द्वारा उसको दुनिया के सामने रख दिया। मैने यह विषय जान-बूझकर चुना है। शिक्षण-शास्त्र का अभ्यास करते हुए भी संभव है कि इस विषय का आपने कभी विचार न किया हो। इसलिए इसी विषय पर बोलने का मैने निश्चय किया। इस विषय पर विचार ही नहीं बल्कि वैसा ही आचार करने की कोशिश भी मै बीस साल से करता आ रहा हूँ, क्योकि जीवन मे और साथ-साथ शिक्षण में भी शरीर-श्रम को मै प्रथम स्थान देता हूँ।

हम दीन क्यों हुए ?

हम जानते है कि हिन्दुस्तान की आबादी पैंतीस करोड है और चीन की चालीस-पैंतालीस करोड़। ये दोनो राष्ट्र प्राचीन हैं। इन दोनो को मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड तक हो जाती है। इतनी जन-संख्या दुनिया का सबसे बडा और महत्त्व का हिस्सा हो जाता है। और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनो देश आज दुनिया मे सबसे ज़्यादा दुखी, पीड़ित और दीन है। इसका कारण यह है कि इन दोनो मुल्को ने वृत्ति का जो आदर्श अपने सामने रक्खा था उसका पूरा अनुसरण उन्होंने नहीं किया। और बाहर के राष्ट्रो ने उस वृत्ति को कभी स्वीकार ही

नहीं किया। मेरा मतलब यह कहने से है कि हिन्दुस्तान में शरीर-श्रम को जीवन में प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकार का हो—कातने का हो, बढ़ई का हो, रसोई बनाने का हो, सबका मूल्य एक ही है। भगवद्गीता में यह बात साफ शब्दों मे लिखी है। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो, पर अगर उसने उस काम को अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्ति को सम्पूर्ण मोक्ष मिल जाता है। अब इससे अधिक कुछ कहना बाक़ी नहीं रह जाता। मतलब यह कि हरएक उपयुक्त परिश्रम का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्राचीन धर्म का आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ग निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहाँ जितना बडा शूद्रवर्ग है उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक-से-अधिक मज़दूरी करवायी और उसको कम-से-कम खाने को दिया। उसका सामाजिक दर्जा हीन समझा। उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी। इतना ही नहीं, उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगरवर्ग मे ज्ञान का पूरा अभाव हो गया। वह पशु के समान केवल मज़दूरी ही करता रहा।

हमारा कला-कौशल

प्राचीन काल मे हमारे यहाँ कला कम नहीं थी। लेकिन पूर्वजों से मिलनेवाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रति-दिन प्रगति करना दूसरी बात। आज भी काफ़ी प्राचीन कारीगरी मौजूद है। उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है। अपनी प्राचीन कला को देखकर हमें आश्चर्य होता है, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है! आश्चर्य करने का प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए? उन्हीं पूर्वजों की तो हम सन्तान हैं न? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य

करने के सिवा हमारे हाथ मे और कुछ नहीं रहा। यह कैसे हुआ? कारीगरो मे ज्ञान का अभाव और हममे परिश्रम-प्रतिष्ठा का अभाव ही इसका कारण है।

ब्राह्मण और शूद्र की समान प्रतिष्ठा

प्राचीन-काल मे ब्राह्मण और शूद्र की समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्त्तक, तत्त्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान था वह ईमानदारी से अपनी मज़दूरी करता था। प्रातःकाल उठकर भगवान् का स्मरण करके सूर्यनारायण के उदय के साथ खेत मे काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणो को समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था। उस ब्राह्मण में और इस किसान मे कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नहीं माना जाता था।

"उदरपात्र"

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण "उदर-पात्र" होते थे, यानी उतना ही सचय करते थे जितना कि पेट मे अटता था। यहाँ तक उनका अपरिग्रही आचरण था। आज की भाषा में कहना हो तो वे ज़्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदले मे कम-से-कम वेतन लेते थे। यह बात प्राचीन इतिहास से हम जान सकते हैं। लेकिन बाद मे ऊँच-नीच का भेद पैदा हो गया। कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊँची श्रेणी का और हर तरह की मज़दूरी करनेवाला नीची श्रेणी का माना गया। उसकी योग्यता कम, उसे खाने के लिए कम और उसकी प्रगति की, ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था भी कम।

प्राचीन भारत की उद्योगशालाएँ

प्राचीन काल में न्यायशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, वेदान्तशास्त्र इत्यादि शास्त्रो के अध्ययन का जिक्र हम सुनते है। गणितशास्त्र, वैद्यकशास्त्र,

ज्योतिष शास्त्र इत्यादि शास्त्रों की पाठशालाओं का ज़िक्र भी आता है। लेकिन उद्योगशाला का उल्लेख कहीं नहीं आया है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रम-धर्म माननेवाले थे, इसलिए हरएक जाति का धन्धा उस जाति के लोगों के घर-घर मे चलता था और इस तरह हरएक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढ़ई, उसके घर में बच्चो को बचपन ही से उस धन्धे की शिक्षा अपने पिता से मिल जाती थी। उसके लिए अलग प्रबन्ध करने की आवश्यकता न थी। लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिता का ही धन्धा पुत्र को करना चाहिए, और दूसरी ओर बाहर से आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसीको खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी सनातनी भाइयों से बातचीत करने का मौक़ा मिल जाता है। मैं उनसे कहता हूँ कि वर्णाश्रम धर्म लुप्त हो रहा है। इसका अगर आपको दुःख है तो कम-से-कम स्वदेशी-धर्म का तो पालन कीजिए। बुनकर से तो मैं कहूँगा कि अपने बाप का धंधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपडा मैं नहीं लूँगा तो वर्णाश्रम-धर्म कैसे ज़िन्दा रह सकता है? हमारी इस वृत्ति से उद्योग गया और उद्योग के साथ उद्योगशाला भी गयी। इसका कारण यह है कि हमने शरीर-श्रम को नीच मान लिया। जो आदमी कम-से-कम परिश्रम करता है वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान् और नीतिमान् माना जाता है।

सफ़ेदपोशों की अकड़

आज ही सुबह बातें हो रही थीं। किसी ने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं", तो दूसरे ने कहा "लेकिन जबतक उनकी धोती सफ़ेद है तबतक वे पूरे किसान नहीं हैं।" इस कथन में एक दंश था। खेती और स्वच्छ धोती की अदावत है, इस धारणा में दंश है। जो अपने को ऊपर की श्रेणीवाले समझते हैं उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ़ रहते हैं, हमारे कपड़े बिल्कुल सफ़ेद बगले के पर-जैसे होते

है। लेकिन उनका यह सफ़ाई का अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीर की डाक्टरी जॉच—मै मानसिक जॉच की तो बात ही छोड देता हूॅ—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरो के शरीर की भी जॉच की जाय और दोनो परीक्षाओ की रिपोर्ट डाक्टर पेश करे और कह दे कि कौन ज्यादा साफ़ है। हम लोटा भी मलते है तो बाहर से। उसमे अपना मुॅह देख लीजिए। लेकिन अन्दर से हमे मलने की ज़रूरत ही नही जान पड़ती। हमारे लिए अन्दर की क़ीमत ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमे शंका होती है कि खेत की मिट्टी मे काम करनेवाला किसान कैसे साफ़ रह सकता है। लेकिन मिट्टी मे या खेत मे काम करनेवाले किसान के कपडे पर जो मिट्टी का रंग लगता है वह मैल नही है। सफेद कमीज के बदले किसी ने लाल कमीज़ पहन लिया तो उसे रगीन कपडा समझते है। वैसे ही मिट्टी का भी एक प्रकार का रंग होता है। रंग और मैल मे काफ़ी फ़र्क है। मैल मे जतु होते है, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगध' होती है। गीता मे लिखा है, "पुण्योगधः पृथिव्या च"। मिट्टी का शरीर है, मिट्टी मे ही मिलनेवाला है, उसी मिट्टी का रग किसान के कपड़े पर है। तब वह मैला कैसे है? लेकिन हमको तो बिल्कुल सफेद, कपास जितना सफद होता है उससे भी बढकर सफेद कपड़े पहनने की आदत पड गयी है। मानो 'ह्वाइट वाश' ही किया है। उसे हम साफ कहते है। हमारी भाषा ही विकृत हो गयी है।

शुद्ध भाषा पर घमंड

अपनी उच्चारण-पद्धति पर भी हमे ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते है उसे हम अशुद्ध कहते है। लेकिन पाणिनि तो कहते है कि साधारण जनता जो बोली बोलती है वही व्याकरण है। तुलसीदासजी ने रामायण आम लोगो के लिए लिखी। वे जानते थे कि

देहाती लोग 'ष', 'श' और 'स' के उच्चारण में फर्क नहीं करते। आम लोगों की जबान में लिखने के लिए उन्होंने रामायण मे सब जगह 'स' ही लिखा। वे नम्र हो गये। उनको तो आम लोगो को रामायण सिखानी थी, तो फिर उच्चारण भी उन्हीं का होना चाहिए। लेकिन आज के पढ़े-लिखे लोगों ने तो मज़दूरो को बदनाम करने का ही निश्चय कर लिया है।

असली धर्म

हममे से कोई गीतापाठ, भजन और जप करता है, या कोई उपनिषद् कण्ठ कर लेता है, तो वह बड़ा महात्मा बन जाता है। जप, संध्या पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन दया, सत्य, परिश्रम में हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा, अनुत्पादक हो उसी को हम सच्चा धर्म मानते है। जिससे पैदावार होती है वह भला धर्म कैसे हो सकता है? भक्ति और उत्पत्ति का भी कहीं मेल हो सकता है? लेकिन वेद भगवान् मे हम पढ़ते हैं—"विश्व की उत्पत्ति करनेवाले को कुछ कृति अर्पण करो। उसने विश्व की सृष्टि का रास्ता दिखा दिया, उसका अनुसरण करो।" लेकिन हमारी साधु की कल्पना इससे उल्टी है। एक ब्राह्मण खेत मे खोदने का काम कर रहा है या हल चला रहा है, ऐसी तस्वीर अगर किसी ने खींच दी तो वह तस्वीर खींचनेवाला पागल समझा जायगा। "क्या ब्राह्मण भी मज़दूर के जैसा काम कर सकता है?" यह सवाल हमारे यहाँ उठ सकता है। "क्या तत्त्वज्ञानी खा भी सकता है?" यह सवाल नहीं उठता। वह मजे में खा सकता है। ब्राह्मण को खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं, उसी को पुण्य मानते हैं।

हमारी ग़ुलामी का कारण

हिन्दुस्तान की संस्कृति इस हद तक गिर गयी, इसी कारण से बाहर के लोगों ने इन ऊपरी लोगों को हटाकर हिन्दुस्तान को जीत लिया। बाहर के लोगों ने आक्रमण क्यों किया? परिश्रम से छुटकारा पाने के

लिए। इसीलिए उन्होने बडे-बडे यन्त्रों की खोज की। शरीर-श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समय मे मौज और आनन्द करने की उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरएक राष्ट्र अब यन्त्रों का उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभीतक चली जबतक दूसरो के पास मशीन नहीं थी। मशीन से सम्पत्ति और सुख तभीतक मिला जबतक दूसरो ने मशीन का उपयोग नही किया था। हरएक के पास मशीन आजाने पर स्पर्धा शुरू हो गयी।

यूरोप एक 'चिड़ियाख़ाना' है

आज यूरोप एक बडा 'चिडियाख़ाना' ही बन गया है। जानवरो की तरह हरएक अपने अलग-अलग पिंजडे मे पडा है और पड़ा-पडा सोच रहा है कि एक दूसरे को कैसे खा जाऊँ। क्योकि वह अपने हाथो से कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते है—"हाथो से काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीब से छूट सके तो बडा अच्छा हो। अगर दो घण्टे काम करके पेट भर सके तो तीन घण्टे क्यो करे? अगर आठ घण्टे काम करेगे तो कब साहित्य पढेगे और कब संगीत होगा? कला के लिए वक़्त ही नहीं बचता।"

पुच्छविषाणयुक्त पशु

भर्तृहरि ने लिखा है—"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"—जो साहित्य-सगीत-कला से विहीन है वह विना पुच्छविषाण (पूँछ और सींग) का पशु है। मै कहता हूँ—"ठीक है, साहित्य-संगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत-कलावाला पुच्छविषाणवाला पशु है।" भर्तृहरि के लिखने का मतलब क्या था यह तो मैं नही जानता, लेकिन उसपर से मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पडित ने लिखा है—"काव्यशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"—बुद्धिमान् लोगो का समय काव्य-शास्त्र-विनोद मे

कटता है। मानो उनका समय कटता ही नहीं, मानो वह उन्हें खाने के लिए उनके दरवाजे पर खड़ा है। काल तो जाने ही वाला है। उसके जाने की चिन्ता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो। शरीर-श्रम को दुःख क्यो मान लिया है, यही मेरी समझ मे नहीं आता। आनन्द और सुख का जो साधन है उसीको कष्ट माना जाता है।

वास्तविक व्यायाम

एक अमेरिकन श्रीमान् से किसी ने पूछा, "दुनिया मे सबसे अधिक धनवान् कौन है?" उसने जवाब दिया—"जिसकी पचनेन्द्रिय अच्छी है वह।" उसका कहना ठीक है। सपत्ति खूब पड़ी है। लेकिन दूध भी हज़म करने की ताकत जिसमे नहीं है उसको उस सम्पत्ति से क्या लाभ? और पचनेन्द्रिय कैसे मज़बूत होती है? काव्यशास्त्र से तो "कालो गच्छति"। उससे पचनेन्द्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पचनेन्द्रिय तो व्यायाम से, परिश्रम से मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पद्रह मिनिट का निकला है। मैने एक किताब देखी—"फ़िफ़्टीन मिनिट्स एक्सरसाइज़"। ऐसे व्यायाम से दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी इसकी चिन्ता ही नहीं होती। सैण्डो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगों ने व्यायाम का शास्त्र भी हिंसक बना रक्खा है। तीन मिनिट मे एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से-जल्दी उससे निपटकर काव्यशास्त्र में कैसे लग जायें, यही फ़िक्र है। थोड़े ही समय मे एकदम व्यायाम करने की जो पद्धति है उससे स्नायु (मसल्स) बनते हैं, नसे (नर्व्ज़) नहीं बनतीं। और अमरबेल जिस प्रकार पेड को खा जाती है वैसे ही स्नायु आरोग्य को खा जाते हैं। नसें आरोग्य को बढ़ाती हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनती हैं और पचनेन्द्रिय मज़बूत होती है। चौबीस घटे हम लगातार हवा लेते हैं: लेकिन अगर हम यह सोचने लगे कि दिनभर हवा लेने की यह तकलीफ़ क्यों उठाएं,

दो घटे मे ही दिनभर की पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो कहना पडेगा कि हमारी सस्कृति आखिरी दर्जे तक पहुँच गयी है। हमारा दिमाग इसी तरह से चलता है। पढ़ते-पढते ऑख बिगड जाती है तो हम ऐनक लगा लेते है। लेकिन ऑखे न बिगडे इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड गया है, भेदभाव बढ़ गया है और हमपर बाहर के लोगो का आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवन की दृष्टि से। अब शिक्षण की दृष्टि से परिश्रम का विचार करना है।

शरीर और मन का सम्बन्ध

हमने शिक्षण की जो नयी प्रणाली बनायी है उसका आधार उद्योग है, क्योकि हम मानते हैं कि शरीर के साथ मन का निकट सम्बन्ध है। आजकल मनोविज्ञान (मानसशास्त्र) का अध्ययन करनेवाले हमे बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारो को खुद अपना काम-क्रोध जीतने का तरीका मालूम नहीं होता। मन के बारे मे इधर-उधर की किताबे पढ-पढ़कर दो-चार बाते कर सकते है। चौदह साल के बाद मनुष्य के मन मे एकाएक परिवर्त्तन होता है इसलिए सोलह सालतक लडको की पढ़ाई होनी चाहिए, यह सिद्धान्त एक मानसशास्त्री ने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैने कहा, "क्या मन मे परिवर्त्तन होने का भी कोई पर्व होता है? हम देखते है कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एक-दम दो फुट ऊँचा हो गया हो, ऐसा नहीं होता। तो फिर मन मे ही एकदम परिवर्त्तन कैसे हो सकता है?" बाद मे मैने उनको समझाया कि हड्डियाँ चौदह साल के बाद ज़रा तेज़ी से बढती है और मन का शरीर के साथ सम्बन्ध होनेसे दिमाग भी उसी हिसाब से तेज़ी से विकसित होता है। शरीर और मन दोनो एक ही प्रकृति मे, एक ही कोटि मे आते हैं।

कार्लाइल का उदाहरण

कार्लाइल एक भारी तत्त्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रन्थ पढ़ते-पढते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे जो मेरे विचारो से मेल नहीं खाते थे। शंकराचार्य का जैसा सीधा, सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखो मे नहीं दीखता। उसका चरित्र बाद मे मुझे पढने को मिला। उससे मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइल को सिर के दर्द की बीमारी थी। तब मुझे उसके लेखन-दोष का कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समय का उसका लेखन कुछ टेढा-मेढ़ा होता होगा। योगशास्त्र में तो मनःशुद्धि के लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलायी गयी है। हमारे शिक्षण-शास्त्र का भी आधार वही है। शरीर-वृद्धि के साथ मनोवृद्धि होती है। लड़कों की मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

भूख भगवान् का सन्देश है

परिश्रम से उनकी भूख बढ़ेगी। जिसको दिनभर में तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना ज़िन्दा मनुष्य का धर्म है। जिसे दिनभर मे एक ही दफ़ा भूख लगती है, संभवतः उसका जीवन अनीतिमय होगा। भूख तो भगवान् का सन्देश है। भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अन्दर न होती। किसीको भी भूख प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कार का मौक़ा कैसे मिलता? सामने यह खम्भा खड़ा है। इसका हम क्या सत्कार करेंगे? इसको न भूख है, न प्यास। हमें भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है।

शिक्षक भी परिश्रम करे

लड़कों से परिश्रम लेना है तो शिक्षक को भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए। क्लास मे झाड़ू लगाना होता है, लेकिन इसके

लिए या तो नौकर रखे जाते हैं या लडके झाडू लगाते है। शिक्षक को हम कभी झाडू लगाते नहीं देखते। विद्यार्थी क्लास में पहले आ गये तो वे झाडू लगा ले, कभी शिक्षक पहले आ गया तो वह लगा ले, ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाडू लगाने के काम को हमने नीचा मान लिया है। फिर शिक्षक भला वह कैसे करे? हम लडको को झाडू लगाने का भी काम देगे तो शिक्षण की दृष्टि से देगे। और शिक्षण की दृष्टि से जो परिश्रम लडको से कराना है वह शिक्षक को पहले सीख लेना चाहिए और लडको के साथ करना चाहिए। मैंने एक झाडू तैयार की है। एक रोज़ दो-तीन लडकियाँ वहाँ आयी थीं। तब उनको मैने वह दिखायी और उसमे कितनी बाते भरी है यह समझाया। समझाने के बाद जितनी बातें मैंने कहीं वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा लीं। लेकिन यह मैं तभी कर सका जब झाड़ू लगाने का काम मैं खुद कर चुका था। इस तरह हरएक चीज शिक्षण की दृष्टि से लडको को सिखानी चाहिए। एक आदमी ने मुझसे कहा, "गाधीजी ने पीसना, कातना, जूते बनाना वगैरह काम खुद करके परिश्रम की प्रतिष्ठा बढा दी।" मैंने कहा, "मै ऐसा नहीं मानता। परिश्रम की प्रतिष्ठा किसी महात्मा ने नही बढ़ायी। परिश्रम की निज की ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्मा को प्रतिष्ठा दी।" आज हिन्दुस्तान में गोपाल कृष्ण की जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उनके गोपालन ने उन्हे दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

सृष्टि ही पाठशाला है

दुनिया की हरएक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूप मे घूम रहा था। चारो तरफ बडे-बडे हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपर से इतनी कडी धूप पड रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे है? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझ मे आ गया कि जो वृक्ष ऊपर से इतने हरे-भरे दीखते है उनकी जड़ें जमीन मे गहरी पहुँची हैं और

वहाँ से उन्हे पानी मिल रहा है। इस तरह अन्दर से पानी और ऊपर से धूप, दोनों की कृपा से यह सुन्दर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अन्दर से भक्ति का पानी और बाहर से तपश्चर्या की धूप मिले तो हम भी पेड़ो के जैसे हरे-भरे हो जायं। हम ज्ञान की दृष्टि से परिश्रम को नहीं देखते, इसलिए उसमें तकलीफ़ मालूम होती है। ऐसे लोगों के लिए भगवान् का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं।

किताबें बुद्धि का क़ैदखाना है

किताबें पढ़ने से ज्ञान मिलता है यह ख़याल गलत है। पढ़ते-पढ़ते बुद्धि ऐसी होजाती है कि जिस समय जो पढते हैं वही ठीक लगता है। एक भाई मुझसे कहते थे, "मैंने समाजवाद की किताब पढी तो वे विचार ठीक जान पड़े। बाद मे गाधी-सिद्धान्त की पुस्तक पढी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोद में उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजे के लिए पहली ठीक थी और चार बजे के लिए दूसरी।" मेरे कहने का मतलब यह है कि बहुत पढने से हमारा दिमाग़ स्वतन्त्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करने की शक्ति लुप्त होजाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि जबसे किताबें निकलीं तब से स्वतन्त्र विचार-पद्धति नष्ट होगयी है। कुरान शरीफ़ मे एक सवाद आया है कि मुहम्मद साहब से कुछ विद्वान् लोगों ने पूछा, "तुम्हारे पहले जितने पैग़म्बर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखाते, तो फिर पैग़म्बर कैसे बन गये?" उन्होंने जवाब दिया, "आप कौन सा चमत्कार चाहते हैं? एक बीज बोया जाता है, उसमें से बड़ा-सा वृक्ष पैदा होता है, उसमें फूल लगते हैं और उनमें से फल पैदा होते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है?" यह तो एक जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया कि, "मुझ जैसा अनपढ़ आदमी भी आप लोगों को ज्ञान

दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है ? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते है ?" हमारे सामने की सृष्टि ज्ञान से भरी है। हम उसकी तह तक नहीं पहुँचते, इसलिए उसमे जो आनन्द भरा है वह हमे नही मिलता।

उद्योग—ज्ञान और प्रेम का साधन

रोटी बनाने का काम माता करती है। माता का हम गौरव करते हैं। लेकिन माता का असली माता-पन उस रसोई मे ही है। अच्छी-से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चो को प्रेम से खिलाना—इसमे कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है ? रसोई का काम अगर माता के हाथों से ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करने का यह मौका कोई माता छोडने के लिए तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह ज़िन्दा रहती है। मेरे कहने का मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मैं स्त्रियो पर रोटी पकाने का बोझ लादना चाहता हूँ। मैं तो उनका बोझ हलका करना चाहता हूँ। इसीलिए हमने आश्रम मे रसोई का काम मुख्यतः पुरुषो से ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोई का काम माता छोड देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला जायगा, वैसे ही हम अगर परिश्रम से घृणा करेगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेगे।

बालकों से मज़दूरी

लोग मुझसे कहते हैं, "तुम लडको से मजदूरी कराना चाहते हो। उनके दिन तो गुलाब के फूल जैसे खिलने और खेलने-कूदने के हैं।" मैं कहता हूँ, बिल्कुल ठीक। लेकिन वह गुलाब का फूल किस तरह खिलता है, यह भी तो जरा देखो। वह पूर्णरूप से स्वावलम्बी है। जमीन से सब सत्त्व चूस लेता है। खुली हवा मे अकेला खड़ा होकर धूप, बारिश, बादल सब सहन करता है। बच्चो को भी वैसा ही रक्खो। मै यह पसन्द करता हूँ। उनसे पूछकर ही देखो कि फूल को पानी देने मे, चन्द्रकला को घटती-बढती देखने में आनन्द आता है, या किताबो मे और व्याकरण

के नियम घोखते रहने में ? सुरगाँव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है। वहाँ एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से ११ साल तक के लडके उसमें पढ़ते हैं। गाँववालो की राय है कि वहाँ का शिक्षक अच्छा पढाता है। परीक्षा को एक या दो महीने बाकी थे, तब उसने सुबह ७ से १०॥ तक और दोपहर में २ से ५॥ तक, और रात को फिर ७ से ९ बजे तक—यानी कुल ९ घंटे पढ़ाना शुरू किया। न मालूम इतने घंटे वह क्या पढाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढ़ते होंगे ! अगर लडके पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षक ने ठीक पढाया है। इस तरह ९-९ घंटे लडको से पढाई करानेवाला शिक्षक लोक-प्रिय हो सकता है। लेकिन मैं तीन घंटे कातने की बात कहूँ तो कहते हैं, "यह लड़कों को हैरान करना चाहता है।" ठीक ही है। जहाँ बडे काम से बचने की फ़िक्र में हों वहाँ लडकों को काम देने की बात भला कौन सोचे ?

उत्पादन का आग्रह क्यों ?

फिर लोग यह पूछते हैं कि "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया। लेकिन उससे इतना उत्पादन होना ही चाहिए, यह आग्रह क्यों ?" मेरा जवाब यह है कि "लडकों को तो जब कोई चीज बनती है तभी आनन्द आता है। बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ पैदा न हो, तो क्या इसमें उन्हें आनन्द आ सकता है ? किसी से अगर कहा जाय कि 'चक्की तो पीसो, लेकिन उसमें गेहूँ न डालो और आटा भी तैयार न होने दो', तो वह पूछेगा, 'फिर यह नाहक चक्की घुमाने का मतलब ?' तो क्या हम यह कहेंगे कि 'भुजाएँ और छाती मज़बूत बनाने के लिए ?' ऐसे उद्योग में क्या कुछ आनन्द आ सकता है ? वह तो बेकार की मेहनत हो जायगा। अतः उत्पादन में ही आनन्द है।"

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर श्रम की महिमा को हम समझें।

प्राइमरी स्कूलो मे हम उद्योग के आधार पर शिक्षण न देगे तो शिक्षा को अनिवार्य न कर सकेगे ।

देहाती ख़ुश होंगे

आज गॉववाले कहते है कि "लडका स्कूल मे पढने जाता है तो उसमे काम के प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है । फिर उसे स्कूल क्यो भेजे ?" लेकिन हमारी पाठशालाओ मे अगर उद्योग शुरू हो गया तो मॉ-बाप खुशी से अपने लड़के को स्कूल भेजेंगे । लडका क्या पढ़ता है, यह भी देखने आयेंगे । आज तो लड़के की क्या पढ़ाई हो रही है, यह देखने के लिए भी मॉ-बाप नहीं आते । उनको उसमे रस ही नही मिलता । उद्योग के पढ़ाई मे दाखिल होजाने के बाद इसमे फ़र्क पड़ेगा । गॉववालो के पास काफी ज्ञान है । हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नही हो सकता । वह गॉववालो के पास जायगा और अपनी कठिनाइयॉ उनको बतायेगा । स्कूल के बगीचे मे अच्छे पपीते नही लगते तो वह उसका कारण गॉववालो से पूछेगा । फिर वे बतायेगे कि इस-इस किस्म की खाद डालो, खाद खराब होने से पपीते मे कीड़े लग जाते है । हम समझते है कि हम कृषि-कालेज मे पढे हुए है, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है । लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है । हम उसे व्यवहार मे नही लाते । जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तबतक उसमे प्रगति और वृद्धि नहीं होती । अगर हम गॉववालो का सहयोग चाहते हैं, उनके ज्ञान से अगर हमे लाभ उठाना है, तो स्कूलो मे उद्योग शुरू करना चाहिए । हमारे और उनके सहयोग से उस ज्ञान मे सुधार भी होगा ।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षको मे प्रेम, आनन्द और श्रम के प्रति आदर उत्पन्न होगा । हमारी नयी शिक्षा-प्रणाली इसी आधार पर बनायी गयी है ।

: ८ :

ब्रह्मचर्य की कल्पना

यों तो हर धर्म मे मनुष्य-समाज के लिए कल्याणकारी बातें पायी जाती हैं। इस्लाम धर्म मे ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्द का अर्थ ही 'भगवान् का भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्म मे पायी जाती है। हिन्दू ऋषि-मुनियों ने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले हैं वे भी दूसरे धर्मों मे पाये जाते हैं। लेकिन हिन्दूधर्म ने विशिष्ट आचार के लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मों मे नहीं देख पडता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था हिन्दू-धर्म की विशेषता है। अंग्रेज़ी मे ब्रह्मचर्य के लिए शब्द ही नही है। लेकिन उस भाषा मे शब्द नहीं है इसका मतलब यह नहीं कि उन लोगों मे कोई संयमी हुआ ही नहीं। ईसामसीह ख़ुद ब्रह्मचारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग सयमी जीवन बिताते हैं। लेकिन ब्रह्मचर्याश्रम की वह कल्पना उन धर्मों में नहीं है जो हिन्दू-धर्म मे पायी जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम का हेतु यह है कि मनुष्य के जीवन को आरम्भ में अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्ष को जब वह छोटा होता है तब खाद की अधिक आवश्यकता रहती है; बडा हो जाने के बाद खाद देने से जितना लाभ है, जब वह छोटा होता है तब खाद देने से उससे अधिक लाभ होता है। यही मनुष्य-जीवन का हाल है। यह खाद अगर अंत तक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवन के आरम्भ-काल में तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चों को दूध देते हैं। उसे वह अंत तक मिलता रहे तो अच्छा ही है, लेकिन अगर नहीं

मिलता तो कम-से-कम बचपन मे तो मिलना ही चाहिए। शरीर की तरह आत्मा और बुद्धि को भी जीवन के आरम्भ-काल में अच्छी ख़ूराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीज़ का स्वाद जीवनभर लेते थे उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने बच्चो को भी मिले, इस दयादृष्टि से उन्होने ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की। लेकिन आज मै उस आश्रम के विषय मे नही बोलूँगा। शास्त्र का आधार भी मुझे नहीं लेना है। अनुभव से बाहर के शब्दो का मुझे व्यसन नही।

अनुभव से मैं इस निर्णय पर आया हूँ कि आजीवन पवित्र जीवन बिताने की दृष्टि से कोई ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्य की अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होती। 'दाउ शैल्ट नॉट स्टील' आज मेरे काम नही आयेगा। 'सत्य वद' इस तरह की 'पॉज़िटिव' यानी भावात्मक आज्ञा ब्रह्मचर्य के काम मे आती है। विषय-वासना मत रक्खो, यह ब्रह्मचर्य का 'नेगेटिव' याने अभावात्मक रूप हुआ। सब इद्रियो की शक्ति आत्मा की सेवा मे खर्च करो, यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना। अगर मै चाहता हूँ कि इस छोटी-सी देह के सहारे दुनिया की सेवा करूँ, उसके ही काम में अपनी सब शक्ति खर्च करूँ, तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन आसान हो जाता है। ब्रह्म शब्द से डरिए नही। मान लीजिए, एक आदमी अपने बच्चे की सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्म-स्वरूप है, इसकी सेवा मे मै सब कुछ अर्पण कर दूँगा, और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजी को 'जागिए रघुनाथ कुँवर' कहकर जगाते थे वैसे ही उस लड़के को जगाता है, तो उस लड़के की भक्ति से भी वह आदमी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हें बीड़ी पीने की आदत थी। सौभाग्य से उनके एक

लड़का हुआ। तब उनके मनमे विचार आया कि मुझे बीड़ी का व्यसन लगा है, इससे मेरा जो बिगड़ा सो बिगड़ा, लेकिन अब मेरा लड़का तो उससे बच जाय। मेरा उदाहरण लड़के के लिए ठीक न होगा। उदाहरण उपस्थित करने के लिए तो मुझे बीडी छोड़ ही देनी चाहिए। और तबसे उनकी बीड़ी छूट गयी। यही कल्पना थोड़ी-सी आगे बढ़ कर देश-सेवा की कल्पना उनके मन मे आती तो वे संपूर्ण ब्रह्मचर्य का आसानी से पालन कर सकते। देश की सेवा कोई ब्रह्मभाव से करता है तो वह ब्रह्मचारी है। उसे उसमे कष्ट ज़रूर उठाने पड़ेगे। लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होगे। माता अपने बच्चे की सेवा रात-दिन करती है। जब उसके पास कोई सेवा की रिपोर्ट मॉगने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी? आर्यसमाज के सेक्रेटरी से कोई रिपोर्ट मॉगे तो सौ पन्ने की लम्बी रिपोर्ट दे देगे। लेकिन माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नहीं दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्य मे दे देगी कि "मैंने तो लड़के की कुछ भी सेवा नहीं की।" भला, माता की रिपोर्ट इतनी छोटी क्यो? इसका कारण है। माता के हृदय में बच्चे के प्रति जो प्रेम है उसके मुकाबिले मे उसकी कुछ भी सेवा नहीं हुई है, ऐसा उसे लगता है। सेवा करने मे उसे कष्ट कुछ कम नहीं सहने पड़े हैं; लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नहीं हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत् कल्पना रक्खेंगे तो मालूम होगा कि अभीतक तो हमने कुछ भी नहीं किया। इन्द्रियो का निग्रह करना, यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायेंगे कि इतने दिन हुए और अभीतक कुछ फल नहीं दिखाई देता। लेकिन किसी बृहत् कल्पना के लिए हम इन्द्रिय-निग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं', ऐसा 'कर्तरि प्रयोग' नहीं रहता। 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है, या यों कहिए कि निग्रह ही हमें करना है। भीष्मपितामह के सामने एक कल्पना आ गयी कि पिता के

सतोष के लिए मुझे सयम करना है। बस, पिता का संतोष ही उनका ब्रह्म हो गया, और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्यो मे भी हुए है। एक सायंटिस्ट की बात कहते है कि वह रात-दिन प्रयोग मे मग्न रहता था। उसकी एक बहिन थी। भाई प्रयोग मे लगा रहता है और उसकी सेवा करने के लिए कोई नही है, यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाई के ही पास रही और उसकी सेवा करती रही। उस बहिन के लिए 'बधु-सेवा' ही ब्रह्म की सेवा हो गयी। देह के बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूँढिए। अगर किसी ने हिन्दुस्तान के गरीब लोगो को भोजन देने की कल्पना अपने सामने रक्खी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण करदेगा। वह मानलेगा कि मेरा कुछ भी नही है, जो कुछ है वह सब गरीब जनता का है। 'जनता की सेवा' उसका ब्रह्म होगयी। उसके लिए जो आचार वह करेगा वही ब्रह्मचर्य है। हरएक काम मे उसे गरीबो का ध्यान रहेगा। वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मन मे विचार आजायगा कि मैं तो निर्बल हूँ इसलिए मुझे दूध पीना पडता है, पर गरीबो को दूध कहाँ मिलता है? लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है, यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबो की सेवा करने के लिए दौड़ जायगा। बस, यही ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करने में अगर हम मग्न होजायँ तो उस दशा मे विषय-वासना कहाँ से रहेगी? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थी। रसोई मे कभी-कभी नमक भूल से दुबारा पडजाता था। लेकिन चिंतन मे मै इतना मग्न रहता था कि मुझे इसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय मैने अनुभव किया है कि देह मानो है ही नही, कोई लाश पडी है, ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियों ने कहा है कि 'बचपन से वेदाध्ययन करो'। मैंने अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य रक्खा। उसके बाद देश की सेवा करता रहा। वहाँ भी

इंद्रिय-निग्रह की आवश्यकता थी। लेकिन बचपन मे इंन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास हो गया था, इसलिए बाद मे मुझे वह कठिन नहीं मालूम हुआ। मैं यह नही कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है। हॉ, विशाल कल्पना मन मे रक्खेंगे तो आसान है। ऊॅचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए सयमी जीवन का आचरण, इसको मै ब्रह्मचर्य कहता हूँ।

यह हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और है। किसी एक विषय का सयम और बाकी के विषयो का भोग, यह ब्रह्मचर्य नहीं है। कल मैंने देवशर्माजी की 'तरगित हृदय' नाम की पुस्तक देखी। उसमे 'जरा-सा' के विषय पर कुछ लिखा था। पुस्तक मुझे अच्छी लगी। 'इतना थोड़ा-सा करने क्या होता है', ऐसा मत सोचो। बोलने में, रहन-सहन में, हरएक बात मे संयम की आवश्यकता है। मिट्टी के बर्तन में छोटा-सा छिद्र हो तो उसमे क्या हम पानी भरेंगे? एक भी छिद्र घड़े मे है तो वह पानी भरने के लिए बेकार ही है। ठीक उसी तरह जीवन का हाल है। जीवन मे एक भी छिद्र नहीं रखना चाहिए। चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे, यह मिथ्या आकाक्षा है। बातचीत, भोजन, स्वाध्याय वगैरह सभी बातो में संयम रखना चाहिए।

: ६ :

स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा का अर्थ

ज्ञान के अन्न की कमी

अक्सर ऐसा देखा गया है कि हमारे कार्यकर्त्ताओ को ज्ञान की ख़ूराक जितनी पहुँचानी चाहिए उतनी पहुँचाने की व्यवस्था हम नहीं करते। राष्ट्र की विशालता और प्रश्नो की जटिलता के लिहाज से हमारे पास कार्यकर्त्ता बहुत कम है और उन कार्यकर्त्ताओ के पास ज्ञान की पूँजी इससे भी कम है। हमे बहुत-से कार्यकर्त्ताओ की जरूरत है। लेकिन हम सिर्फ बड़ी सख्या नही चाहते। अगर हमारे पास कर्त्तव्यदक्ष, चरित्रवान् और अपने कार्य की भूमिका भलीभाँति समझनेवाले ज्ञानवान् कार्यकर्त्ता थोडे भी हो तो भी काम बहुत होगा।

आज से ठीक एक महीने बाद, २६ जनवरी को, हमे स्वातंत्र्य की प्रतिज्ञा करनी है। आजतक की हुई प्रतिज्ञा अधिक स्पष्ट भाषा मे दुहरानी है। करीब दश वर्ष से हर साल हम उसे दुहराते है। इतनी बडी पुनरावृत्ति का क्या प्रयोजन है, यह आप लोगो को समझाने के लिए मैं उस प्रतिज्ञा का स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ।

अविरत युद्ध

हम कहते है कि अब स्वराज्य की लड़ाई नजदीक आ रही है, लेकिन यह ग़लत है। "लडाई करीब है" कहने का मतलब यह होता है कि आज लड़ाई जारी नहीं है। यह बात सही नहीं है। हमारी लड़ाई तो निरन्तर जारी ही है और जारी रहनी चाहिए। हमारी लड़ाई का रूप एक

नदी के समान है। वह निरन्तर बहती ही रहती है। फिर भी, उसके प्रवाह में गरमियों में और बरसात में फ़र्क होता है। जाड़ों में हम नदी का असली रूप देख पाते हैं, किन्तु वह बहती तो अखण्ड रहती है। उसी प्रकार हमारी लड़ाई भिन्न-भिन्न रूप लेती हुई भी नित्य जारी है। हम कार्यकर्त्ताओं की यह धारणा होनी चाहिए कि हम तो हमेशा लड़ाई में ही लगे हुए हैं।

जो यह मानते हैं कि अबतक हम नहीं लड रहे थे और अब लड़नेवाले हैं उनके सामने यह सवाल पेश होता है कि अब लड़ाई के लिए क्या तैयारी करें? वे सोचते हैं कि अब जेल में जाना पड़ेगा, इसलिए अपनी आदतें बदलनी चाहिए। लेकिन मैं तो कहता हूँ कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है। हम लडाई की आदतें डाल चुके हैं। अब उन आदतों के बदलने का क्या मतलब है? अब क्या 'बिना-लड़ाई-की' आदतें डालनी होगी? हमें निरन्तर यही भाव जाग्रत रखना चाहिए कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है।

केवल मौखिक पुनरुच्चार व्यर्थ है

इस साल स्वातंत्र्य की प्रतिज्ञा में कुछ नयी बातें जोड़ दी गयी हैं और उन बातों के साथ उस प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार करने के लिए कहा गया है। लेकिन जहाँ श्रद्धा न हो वहाँ निरी दुहरौनी से क्या होगा? मुझे एक कहानी याद आती है। एक था साधु। उसने अपने चेले से कहा कि "रामनाम जपने से मनुष्य हर एक संकट से पार होसकता है।" उसके वाक्य में शिष्य को श्रद्धा तो थी लेकिन उसे इसका पूरा-पूरा विश्वास नहीं था कि रामनाम चाहे जिस संकट से उसे तार देगा। एक बार उसे नदी पार करनी थी। वह बेचारा अर्धश्रद्धालु रामनाम रटते हुए नदी पार करने लगा। जैसे-तैसे गलेतक पानी में गया और वहाँ से गोते खाता हुआ बड़ी मुश्किल से वापस आया। गुरु से कहने लगा "लगातार नाम-

स्मरण किया, लेकिन पानी कम नही हुआ। सब अकारथ गया।" गुरु बोला, "अनेक बार नामस्मरण किया इसीलिए अकारथ गया। अगर नामस्मरण मे तुझे श्रद्धा थी तो एक बार किया हुआ नामस्मरण तुझे काफ़ी क्यो नहीं लगा? श्रद्धा कम थी इसीलिए तूने बार-बार नामस्मरण किया और इसीलिए गोते खाये।" स्वातन्त्र्य की प्रतिज्ञा एकबार मनोयोग-पूर्वक करनेवाला सचमुच निश्चयी है, यह हम मान सकते है। लेकिन अगर वह हर साल प्रतिज्ञा करने लगे—इस साल नम्बर एक की प्रतिज्ञा, अगले साल नम्बर दो की प्रतिज्ञा, तीसरे साल नम्बर तीन की प्रतिज्ञा, इस तरह प्रतिज्ञाएँ करने लगे—तो यह शक होने लगेगा कि इसकी प्रतिज्ञा का कोई अर्थ भी है या नहीं! केवल मौखिक पुनरुच्चार से प्रतिज्ञा दृढ़ नही होती।

स्वावलम्बी और परावलम्बी फ़ाक़ाकशी

लेकिन इस साल की प्रतिज्ञा महज़ दुहराने के लिए नहीं है। उसमें महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण है। हमारी गुलामी के अनेक कारण है। अग्रेज़ी राज्य पर हम कई आक्षेप कर सकते हैं, लेकिन सबसे बडा आक्षेप तो यह है कि अग्रेज़ी राज्य की बदौलत हमे फाकाकशी की देन मिली। आप अगर लोगो से पूछिए कि "आपकी स्वराज्य की परिभाषा क्या है"; तो वे इस प्रकार जवाब देंगे, "आप कहते है कि आठ प्रान्तो मे काग्रेस का राज स्थापित होगया। कॉंग्रेस का उस तरह का राज अगर ग्यारह-के-ग्यारहो प्रान्तो मे होजाये, और अबतक जो अधिकार नहीं मिले थे वे भी सब मिलजायँ। मगर हमारी फ़ाक़ाकशी ज्यों-की-त्यो बनी रहे, तो हम तो यही कहेगे कि यह स्वराज्य नहीं है। यही हमारी परिभाषा है।" परावलम्बन की जगह स्वावलम्बन प्राप्त होजाय, मगर भूखो मरना बना ही रहे, तो केवल भारत की ही जनता नहीं, बल्कि भारत की जनता की जैसी शोचनीय दशा में रहनेवाली ससार के किसी भी देश की जनता कहेगी कि, हम यह स्वावलम्बी फाकाकशी नहीं चाहते। न हम स्वाव-

लम्बी उपवास के कायल हैं, न परावलम्बी उपवास के। हम तो भूखों मरना ही नहीं चाहते। हमें फ़ाकाकशी ही नहीं चाहिए, फिर उसका विशेषण कुछ भी क्यो न हो।

कुछ वक्ता जोश में आकर कह देते हैं कि "गुलामी मे चाहे जितना खाने को मिले, तो भी हमें गुलामी नहीं चाहिए, स्वतन्त्रता चाहिए। फिर, स्वतन्त्रता मे हमारी चाहे जितनी बुरी हालत हो, भूखों भी क्यो न मरना पड़े।" लेकिन उन्हीं वक्ताओं से अगर आप यह पूछें कि "अगर स्वराज्य में रेलगाड़ियाँ न हों तो?" तब वे कहने लगते हैं कि "ऐसा स्वराज्य किस काम का?" उनसे पूछिए कि "रेलगाडीवाली गुलामी की अपेक्षा बिना-रेलगाड़ीवाली स्वतन्त्रता क्या अच्छी नही है?" लेकिन बात उनके गले नहीं उतरेगी। "स्वराज्य की कमी सुराज्य से पूरी नहीं हो सकती", यह कहनेवाले बिना-रेलवाले स्वराज्य की कल्पना से भी घबराते हैं। तब बतलाइए कि अगर भूखों मरने की कल्पना से साधारण आदमी घबराने लगे तो क्या आश्चर्य?

स्वराज्य रोटी का सवाल है

यहाँ मुझे कोंकण की कातकरी नामक जाति के एक रिवाज की याद आती है। कातकरी अपनी जाति के मरे हुए आदमी से कहता है, "देख, अगले जनम मे बामण बनेगा तो रट-रटकर मरेगा; अमुक बनेगा तो अमुक काम कर-करके मरेगा, लेकिन अगर कातकरी बनेगा तो वन का राजा बनेगा।" वह गाँव की संस्कारवान परतन्त्रता नहीं चाहता; उसे जगल की संस्कार-हीन स्वतन्त्रता ही प्रिय है। शहरी और बनैले चूहों की कहानी मशहूर है। बनैला चूहा कहने लगा कि "मुझे न शहर की यह शान चाहिए और न यह पराधीनता।" अगर जनता की भी यही हालत होती तो हमें सर्वत्र स्वतन्त्रता ही दिखाई देती। स्वातंत्र्य की प्रतिज्ञा तो ठेठ वेद-काल से चली आयी है—

'व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये'

इस वेद-वचन मे स्वातंत्र्य की प्रतिज्ञा व्यक्त की गयी है। 'व्यचिष्ठ' का अर्थ है अत्यन्त व्यापक, जिसमे सबको मत-दान का अधिकार हो; और 'बहुपाय्य' से मतलब है—जिसकी बहुसख्या अल्पसख्या की रक्षा के लिए सावधान है, ऐसे स्वराज्य के लिए हम कोशिश कर रहे है—यह उस प्रतिज्ञा का अर्थ है। मतलब यह कि उस अत्रि ऋषि के जमाने से पंडित जवाहरलाल के इस जमाने तक वही स्वातंत्र्य की प्रतिज्ञा विद्यमान है। वेद की प्रतिज्ञा जैसी आप चाहते है ठीक वैसी ही है। उसमें भी बहुवचन का प्रयोग है।

साराश यह कि हम अपने जोशीले व्याख्यानो या कविताओं में स्वराज्य की जो व्याख्या करते है वह आम जनता के गले नही उतरी है। जिसमे अन्न-जल का इन्तज़ाम न हो वैसा स्वराज्य जनता नहीं चाहती। उसे नैमित्तिक उपवासो का अभ्यास है। एकादशी, शिवरात्रि के दिन वह व्रत रखती है। लेकिन रोज का भूखो मरना वह सहन नही करसकती। आप इसे हमारा पशुत्व भले ही कह लीजिए, लेकिन इस मानवीय पशु को पेटभर अन्न चाहिए। समाजवादियो और साम्यवादियों के कथन में यही तथ्याश (सत्य) है। हमारी भी मुख्य पुकार यही है। हम फ़ाकाकशी नहीं चाहते। हमे भरपेट अन्न चाहिए। चाहे आप इसे हमारा अधिकार कहे, कर्त्तव्य कहे, या और किसी नाम से पुकारें। भरपेट खाने की स्वतन्त्रता हमे चाहिए।

हिन्दुस्तान मे इस प्रकार की स्वतत्रता स्थापित हो, यह हमारा प्रधान विचार है। मैं स्वराज्य के विषय मे विचार क्यो करता हूँ ? इसलिए कि हिन्दुस्तान मे स्वराज्य के बारे में विचार न करना महापाप है। स्वराज्य का सवाल फ़ाकाकशी से मुक्त होने का सवाल है। जैसा कि तिलक महाराज कहते थे, वह 'दाल-रोटी का सवाल' है।

वर्त्तमान यूरोप—अहिंसा का पदार्थ पाठ

कोई-कोई पूछते है कि अहिंसा से स्वराज्य कैसे मिलेगा ? इसकी चर्चा अगर हम आज शुरू करें तो वह स्वराज्य-प्राप्ति तक खत्म नहीं होगी। इसलिए मैं इस फेर मे नहीं पडता। वर्तमान यूरोप का चित्र अहिंसा का पदार्थ-पाठ है। अहिंसा के अभाव से क्या होता है, इसका पता मौजूदा यूरोप को देखने से चलता है। छोटे-छोटे राष्ट्र तो आज कच्चे खाये जा रहे है। आजकल तो सभी काम बिजली के बटन की तेज़ी से होते है। पहले आदमी सौ-सौ वर्ष जीते थे, अब तडाक-फडाक मर जाते है। पन्द्रह दिन मे पूरे-पूरे राष्ट्र गायब हो जाते है। पहले ऐसी बाते न किसीने देखी थी, न सुनी थी। आज तो मानों बटन दबाते ही राष्ट्र नदारद होजाता है। चीन का कितना बडा हिस्सा जापान निगल गया है, इसका आज हमे पता ही नहीं। भविष्य में जब नया नक़शा तैयार होगा तब हमें पता चलेगा। शस्त्रास्त्रो की इतनी तैयारी करने पर भी आखिर चीन की क्या हालत हुई ? फिर हिन्दुस्तान-जैसा गलित-कलेवर राष्ट्र शस्त्रास्त्रो से स्वराज्य कब पासकता है ? 'यतेमहि' (कोशिश करना) तो अत्रि के जमाने से शुरू ही है। क्या उसी तरह अनन्त कालतक कोशिश ही करते रहे ? आज तो सब कोई लाठी में ही विश्वास करते हैं।

यूरोप की बुद्धि-बल में अश्रद्धा

कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि "तुम नये विचार नहीं पढ़ते। आधुनिक विचारों के साथ परिचय नहीं बढाते।" सुनता हूँ कि ये विचार यूरोप से जहाज़ मे आते है और बम्बई के बन्दर पर लगते हैं। मगर उधर से जो कुछ आता है वह सब अच्छा ही होता है, ऐसा तो अनुभव नहीं है। उधर से इन्फ्लुएजा की हवा आयी जिससे साठ लाख आदमी चलबसे। विचारों की हवा के ये झकोरे बराये मेहरबानी बन्द कीजिए।

हम शिक्षा लेने के लिए किस पाठशाला मे जायँ, यह भी तो सोचने की बात है। जिस शिक्षक की पाठशाला मे पॉच सौ छड़ियॉ और सिर्फ दो ही चार पुस्तके हो उसकी पाठशाला मे भी क्या हम जायेगे ? यूरोप के लोग बहुत-सी पुस्तके लिखते है। उनके पीछे खर्च भी बहुत करते हैं, यह मै जानता हूँ। लेकिन साथ-साथ मै यह भी तो देखता हूँ कि वे फ़ौज पर पुस्तको से कितना गुना ज्यादा खर्च करते है। हमे विचार भी तो उसीसे ग्रहण करना चाहिए जिसका उस विचार मे विश्वास हो। शकराचार्य-जैसा कोई हो तो उससे हम विचार ले सकते है, क्योकि उसकी तो यह प्रतिज्ञा है कि, "मै विचार ही दूँगा।" उससे पूछिए कि "अगर मेरी समझ मे न आये तो ?" तो वह यही जवाब देगा कि "मैं फिर समझाऊँगा।" "और फिर समझ मे न आया तो ?" "दुबारा समझाऊँगा।" "और फिर भी न आया तो ?" "फिर समझाऊँगा, समझाता ही जाऊँगा। अन्त तक विचार से ही समझाऊँगा।" जिसकी ऐसी प्रतिज्ञा है उस शकराचार्य से विचार सीखने को मै तैयार हूँ। ऐसी प्रतिज्ञा अगर कोई जर्मन या रशियन करता तो उसकी पुस्तके भी मै खरीदता। लेकिन वह सिर्फ इतना ही कहता है कि "तुम मेरी पुस्तके पढ़ो।" और अगर हम पूछते हैं कि "हमारी समझ मे न आया तो ?" तो वह जवाब देता है, "पिटोगे।" जिसका विचारो की अपेक्षा छड़ी मे अधिक विश्वास है उससे विचार कैसे ले ?

हथियारपरस्ती बनाम बहादुरी

यूरोप की पद्धति का अनुकरण करना हिन्दुस्तान के खून मे ही नहीं हैं। कहा जाता है कि अग्रेजो ने हिन्दुस्तानियो के हथियार छीन लिये, यह बड़ा नैतिक अपराध किया है। मै भी यही मानता हूँ। जबरदस्ती समूचे राष्ट्र के हथियार छीनना घोर अपराध है। लेकिन मै अपने दिल मे सोचता हूँ कि "इन मुट्ठीभर लोगो ने उस समय के पच्चीस करोड़

लोगों के हथियार छीन कैसे लिये ? इन पच्चीस करोड़ के हाथ क्या घास खाने गये थे ? उनके हथियार माँगते ही इन्होने दे कैसे दिये ?" इसका एक ही कारण हो सकता है। वे हथियार हम लोगों के जीवन का अंग नहीं थे। अगर हमारे जीवन का अंग होते तो वे छीने नहीं जाते। तुकाराम ने एक भले आदमी का जिक्र किया है। उसके एक हाथ में ढाल और दूसरे हाथ मे तलवार थी। बेचारे के दोनो हाथ उलझे हुए थे, इस-लिए वह कोई बहादुरी का काम नहीं कर सकता था। वही न्याय तो यहाँ पर भी घटित नहीं करना है न ? इसलिए हमारे हथियार छीन लिये गये। इसका सीधा अर्थ यही होसकता है कि हिन्दुस्तान के लोगों के स्वभाव में हथियार नहीं थे। कुछ फौजी जातियाँ थीं। दूसरे लोग भी हथियार रख सकते थे। लेकिन रखे-रखे उन पर जंग चढ़ गया था।

लेकिन इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि हिन्दुस्तान के लोग बहादुर नहीं थे। इसका मतलब इतना ही है कि उनका हथियारों पर दारमदार नहीं था। हिन्दुस्तान के सारे इतिहास में यह आरोप किसीने नहीं किया है कि यहाँ के लोग शूर-वीर नहीं हैं। सिकन्दर को सारी धरती नरम लगी, लेकिन हिन्दुस्तान मे उसने खासी ठोकर खायी। जहाँ-जहाँ ऊँट जासकता था वहाँ वहाँ मुसलमान मजे मे चलेगये। जहाँ खजूर और रेत थी वहाँ उनका ऊँट बढता चलागया। लेकिन हिन्दुस्तान में प्रवेश पाने में उन्हें बीस साल लगे। हिन्दुस्तान बहादुर नहीं था इसका इतिहास मे कोई सबूत नहीं है।

हमारी संस्कृति की मर्यादा

लेकिन हमारी संस्कृति की एक मर्यादा निश्चित थी। इसीलिए हमने दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण कभी नहीं किया। किसी-न-किसी कारण से हमारी संस्कृति अहिंसक रही। तभी तो हमारी पैंतीस करोड जनता है। यूरोपीय राष्ट्र दो या चार करोड की ही बात करसकते हैं। यहाँ पैंतीस करोड़ हैं।

हिंसा टूटी-फूटी और अहिंसा अखण्ड है

इसका यह कारण है कि हिंसा का सिद्धान्त टूटा-फूटा और अहिंसा का सिद्धान्त साबित है। यूरोप की हालत कॉच के प्याले-जैसी है। जमीन पर पटकते ही टुकडे-टुकडे हो जाता है। आप ज़रा एकाध कॉच का प्याला जमीन पर पटककर तमाशा देखिए। यूरोपीय राष्ट्रो के नकशो के समान छोटे-बड़े टुकडे होजायेगे। लेकिन हम लोगो ने अपना पानी पीने का साबित प्याला बडी हिफाजत से रखा है। कोई सज्जन बम्बई जाते है, वहाँ किराये पर एक कमरा ले लेते हैं। अकेले एक मियाँ और अकेली एक बीबी—यह जनाब का परिवार कहलाने लगा! वही हाल यूरोपीय राष्ट्रो का है। यूरोप हमे सिखाता है कि अगर हम अहिसा का मार्ग अपनायेगे तभी एक राष्ट्र की हैसियत से जीसकेंगे। यह बात हमारी जनता बडी जल्दी समझ जाती है। लेकिन हम शिक्षितो के गले वह अबतक नहीं उतरती, क्योकि हम पढ़े-लिखे लोग अग्रेजों के मानस-पुत्र जो ठहरे। अग्रेजो का हमपर वरदहस्त है। उन्होने हमारे दिमागो पर जादू करदिया है। इसीलिए तो पूँजी का कही ठिकाना न होते हुए भी हम बड़े पैमाने पर उत्पादन की लम्बी-लम्बी बातें किया करते है। हैसियत चरखा खरीदने की भी नही, पर बात करते है पुतलीघर खोलने की।

हमारा बौद्धिक पारतन्त्र्य

अग्रेजी राज मे हमारी आम जनता का यह नुकसान हुआ है कि वह भूखो मरने लगी है और शिक्षित वर्ग का नुकसान इस बुद्धि-पारतन्त्र्य के रूप मे हुआ है। हम उनकी तीन करोड़ की किताबे खरीदते है। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्', कहकर, हाथ जोड़कर उन पुस्तको को पढ़ते है और तीन करोड़ रुपये गुरुदक्षिणा मे देते है! उन्होने हमारी बुद्धि 'स्व-तंत्र'—याने अपने तंत्र (वश) में करली है। हमसे कहा जाता है कि उनसे शिक्षा ले। क्या शिक्षा ले? बहुत बडे पैमाने पर हत्या

करने की ? क्या यह भी बड़े पैमाने पर उत्पादन का ही एक रूप समझा जाय ? हम उनसे क्या सीखें ? समाज-शास्त्र सीखें ? जिन लोगों ने पैंतीस करोड़ जनता को एक में बाँध रखा वे समाज-शास्त्र जानते हैं या वे, जो दो-दो, तीन-तीन करोड़ के नन्हें-नन्हें राष्ट्र बनाकर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं ? कहा जाता है कि किसी ज़माने में फ्रान्स में एक क्रान्ति हुई और उससे स्वतन्त्रता, समता तथा बंधुता के सिद्धान्त उत्पन्न हुए। उससे कितने ही पहले ये मुट्ठीभर पारसी इस देश में आये और हमने उनकी रक्षा की। तो क्या हम बंधुता जानते ही न थे ? ऐ यूरोप, तेरे पास ऐसा क्या है कि हम तुझसे बंधुता का पाठ पढ़ें ? तूने हमको लूटा, क्या यही तेरी बंधुता का सबूत समझा जाय ?

याद रखिए कि अगर आप हिंसा के फेर में पड़े तो इस देश के यूरोप के समान छोटे-छोटे टुकड़े होकर ही नहीं रहेंगे, बल्कि हमारी खास परिस्थिति के कारण टुकडे भी नहीं मिलेंगे। हमारा तो चूरा ही हो जायगा।

प्रतिज्ञा के तीन भाग

हमारी स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा के तीन भाग हैं। पहला—स्वतन्त्रता की आवश्यकता क्यों है, दूसरा—स्वतन्त्रता जिस मार्ग से प्राप्त करनी है उस मार्ग में श्रद्धा, और तीसरा—हमारी साधन-सामग्री अर्थात् रचनात्मक कार्यक्रम। अबतक दो भागों का विवरण किया। अब रचनात्मक कार्यक्रम पर आता हूँ।

रचनात्मक कार्यक्रम

रचनात्मक कार्यक्रम में हिन्दू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, ग्राम-सेवा और खादी आदि का समावेश है।

मुख्य बात यह है कि हम सच्चे दिल से और लगन से काम करें। लोग कहते हैं, "तुम रचनात्मक कार्यक्रम पर ज़ोर देते हो; लेकिन उधर जिन्ना क्या कहते हैं, अम्बेडकर का क्या कहना है, वह भी तो सुनो।

उसे सुनकर गुस्सा आता है।" अम्बेडकर कहते है कि "इन लोगो ने पूने का समझौता किया और इन्हीं बदमाशो ने उसे तोड दिया।" हम कहते है, "हमने ईमानदारी से उस समझौते पर अमल करने की कोशिश की।" पर ज़रा वस्तुस्थिति तो देखिए। जनता मे क्या हो रहा है? दूर की बात जाने दीजिए। सेवाग्राम और पौनार को ही ले लीजिए। पौनार मे कातने के लिए जो लडके आते हैं उनमे कुछ हरिजन लडके भी हैं। उनमे एक हरिजन लडके से मैंने कहा, "तू खाना पकाना जानता है?" उसने कहा 'नहीं'। मैने कहा, "हमारे यहाँ रसोई बनाने आया कर, हम तुझे सिखा देगे।" वह हमारे यहाँ रसोई बनाने आने लगा। मै पौनार के कुछ लोगो को न्यौता देने लगा। शुरू मे जो दस-पाँच लोग आये वे ही आये। अब कोई नहीं आता। मै वहाँ गाय के दूध से घी बनाता हूँ और मट्ठा मुफ्त मे बाँटता हूँ। लेकिन मुफ्त का मट्ठा लेने के लिए भी कोई नहीं आता। यह हाल है!

अच्छा, हम कार्यकर्त्ता लोग भी लगन से काम करते हो, सो बात भी नहीं है। किसी कार्यकर्त्ता से कहा जाय कि एक हरिजन लड़के को बिलकुल अपने निज के बेटे के समान अपने परिवार मे रक्खो, तो वह कहता है कि यह बात हमारी स्त्री को पसन्द नही है, मेरी माँ तो मानेगी ही नहीं। "स्त्री को पसन्द नहीं है, माँ मानती नही है" यह सब सही है। लेकिन इसका परिणाम क्या होता है? यही कि हम हरिजनो को दूर रखते हैं। इसलिए अम्बेडकर तो मुझे अवतार ही लगता है। चाहे किसी प्रकार की क्यो न हो, हरिजनो मे वह चेतना तो पैदा करता है। वह हमारा भरोसा कैसे करे? "इसे पसन्द नहीं है, वह मानता नहीं है", इन बातो का मूल्य हमारे नजदीक हरिजनो को अपनाने से भी अधिक है। हम कहते हैं, हम हरिजनो को अपने घर मे नहीं रख सकते, हम उनके घर भोजन नहीं कर सकते। इस तरह हृदय से हृदय कैसे मिलेगा?

समाजवादी की युक्ति बेकार है

समाजवादी कहता है, "तुम यह अस्पृश्यता निवारण का झंझट ही छोड़ो। गरीबी और भूख के असल सवाल ही लो।" मैं कहता हूँ, "भाई, तुम्हारी युक्ति बड़ी अच्छी है, मैं उसे स्वीकार करने को भी तैयार हूँ। लेकिन भाई मेरे, वह काम नही आयेगी। हिन्दुस्तान से भी ज़्यादा कगाल लोग दुनिया मे और कही हैं? लेकिन मेरा मुफ्त दिया हुआ गट्टा भी सवर्ण लोग लेने को तैयार नहीं हैं। यह सवाल तुम्हारी तदबीर से हल नहीं होगा। तुम कहोगे कि अब छुआछूत कम हो चला है। रेल मे, स्कूलों मे लोग छूत नहीं मानते। लेकिन इसमे तो बहुत-कुछ करामात अंग्रेजो की है। इसका यह अर्थ नहीं कि जनता ने छुआछूत मानना छोड़ दिया है।"

वास्तविक अस्पृश्यता-निवारण

अश्वमेध सहस्रेण सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।

(हजारों अश्वमेधो के साथ सत्य तोला गया; पाया गया कि सत्य ही श्रेष्ठ है।) हरिजनों के लिए बोर्डिंग खोलना, उन्हें छात्रवृत्तियाँ देना, ये सब बाह्य कृतियाँ अश्वमेधो के समान हैं। ऐसे हजारों अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा एक हरिजन लड़का अपने परिवार मे रखना—जिस प्रेम से हम अपने कुटुम्बियों से पेश आते हैं उसी प्रेम से उसके साथ व्यवहार करना—यह सत्य अधिक महत्त्व रखता है। हमें उनके सुख-दुःख में शामिल होना चाहिए, उन्हें अपनाना चाहिए और इस तरह उनकी स्थिति को ओढ़ लेना चाहिए।

सांप्रदायिक दंगों का इलाज

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के सवाल से भी ऐसा ही खिलवाड़ किया जारहा है। आज जो कुछ होरहा है मै उसे खिलवाड़ ही कहूँगा।

एक कहता है, "तुम आपस मे लड़ते हो, इसलिए तुम्हे स्वराज्य नही मिलेगा।" दूसरा जवाब देता है, "स्वराज्य नहीं है इसीलिए तो आपस मे लडाई होती है।"—ऐसा तमाशा चल रहा है! ज़रा देहात मे जाकर देखिए। वहाँ हिन्दू-मुसलमानो मे वैर नही है। सच पूछिए तो उनमे वैर है ही नही। कुछ महत्त्वाकाक्षी, बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनो को लडाकर खिलवाड करते है। इन लोगो के तीन विशेषण ध्यान मे रखिए—पढे-लिखे, महत्त्वाकांक्षी और बेकार। ये लोग हिन्दू-मुसलमानो को बरबस उभाड़कर उनके झगड़ो का खिलौने की तरह उपयोग करते है।

इसका क्या इलाज किया जाय? इलाज एक ही है। जहाँ कहीं ऐसी दुर्घटना होजाय वहाँ जाकर हम अपने प्राण देदे। यह उपाय देहात मे काम नही आ सकता, क्योकि दगे वहाँ से शुरू नहीं होते। पढ़े-लिखे, बेकार और महत्त्वाकाक्षी लोग जहाँ दगे कराते है—या उनके शब्दो मे कहे तो 'व्यवस्था करते है'—वहाँ जाकर इसका प्रयोग करना चाहिए। इन व्यवस्थापको ने दुनिया को परेशान कर डाला है। उनसे इतनी ही विनय है कि "भाई यह धन्धा छोडो और खुद व्यवस्थित बनो।" लेकिन वे मानेगे नही। इसलिए यही एक इलाज है कि जहाँ दंगा हो जाय वहाँ जाकर हम अपना सिर फुड़वा ले। सौ दो सौ शान्तिपरायण लोगो को ऐसे मौको पर अपने सिर फुडवा लेने चाहिएँ।

इन झगडो का कोई हद्दो हिसाब ही नहीं। ये सिर्फ हिन्दू-मुसलमानों में ही नहीं हैं। पहले ब्राह्मणेतर दल था ही। अब सुनते है, कोई मराठी-लीग भी स्थापित हुई है। भुखमरे टुकड़खोरो का बाज़ार गर्म है। मै जब बडौदे मे रहता था तो वहाँका एक पारसी किसी त्यौहार के उपलक्ष मे कभी-कभी भिखारियो को अन्न बाँटता था। उन टुकड़ो के लिए

ये आपस में लड़ते थे। वही हाल यहाँ है। सरकार से जो टुकड़े मिलेंगे उन्हे ये बीच मे ही हड़पना चाहते है। हमारे तत्त्वज्ञान मे मृत्यु के डर को स्थान नहीं है। और अब रोटियो के अभाव मे भूखो मरने का भी अभ्यास हमें होगया है। इसलिए जहाँ दंगा हो रहा हो वहाँ हमें शान्ति-पूर्वक जाकर बैठ जाना चाहिए। इच्छा हो तो कातना शुरू कर देना चाहिए। इतना काफी है। हम लोगो की ऐसी धारणा है कि बिना नारियल और सिंदूर चढ़ाये पूजा नही होती। नारियल की जगह मौसबी, नारंगी, आम आदि चढाने से काम नहीं चलता। नारियल और सिन्दूर ही चाहिए। इसलिए मैं कहता हूँ कि आप अपना सिर फुड़वाकर अपना रक्त चढायें तो पूजा पूरी हो जायगी। लेन-देन के समझौतो से इन झगडो का निबटारा नहीं होगा। न 'लेन' चाहिए, न 'देन'। मुस्लिम लीग से तसफिया कैसे किया जाय?

सर्व-सुलभ उपासना

खादी के विषय मे भी लोग इसी तरह पूछते हैं। कहते हैं कि "खादी तो ठीक है; लेकिन यह कातने की बला आप क्यो लगा रहे हैं?" मैं कहता हूँ कि, "क्या करूँ? अगर कातने के लिए न कहूँ तो क्या मेवँई बनाने के लिए कहूँ? आप तो कहते हैं न कि लोग भूखों मर रहे हैं? ऐसी हालत मे कुछ-न-कुछ निर्माण करने की क्रिया ही राष्ट्रीय उपासना हो सकती है। इसीको आज अनुशासन कहते हैं। नहीं तो स्वराज्य के आन्दोलन में आप जनता को किस तरह शामिल करेंगे?" अगर कोई काम न हो तो सिर्फ मुझ-जैसा बातूनी आदमी ही स्वराज्य का आन्दोलन कर सकेगा—अर्थात् व्याख्यान दे सकेगा। लाखों, करोड़ों लोगों को स्वराज्य के आन्दोलन में सीधे शामिल होने की कोई तरकीब निकालिए। जो तरकीब निकालें वह भी ऐसी होनी चाहिए कि लोग उसे सहज में समझ सकें। अखबारवालों को जब कोई बात खास तौर पर लोगों के सामने रखनी होती

है तो वे एक-एक इंच के बड़े टाइपो मे शीर्षक देते है। यूरोप मे तो अब सिर्फ शीर्षको से ही काम नहीं चलता, चित्र देने पडते हैं। वहाँ के मजदूर चित्रों पर से समाचार भॉप जाते है। तात्पर्य यह कि स्थूल, स्पष्ट और लोगो का ध्यान आकृष्ट करने लायक चीज होनी चाहिए। तभी कुछ काम होगा। खादी और चरखा लोगो की समझ मे आसानी से आनेवाला, अहिंसक आन्दोलन का प्रत्यक्ष चिन्ह है। उससे सारे राष्ट्र मे स्फूर्ति की आग फैल सकती है। अगर इस इमारत मे कल आग लग जाय तो इसके जलने मे कितनी देर लगेगी? आप ऐसा हिसाब न लगाइए कि इसमे पहली चिनगारी लगने के लिए चालीस साल लगे तो सारी इमारत जलने मे कितने साल लगेंगे। ऐसा ऊटपटॉग त्रैराशिक आप न करें। इस इमारत में आग लगने मे चालीस साल भले ही लग गये हो, लेकिन उसके खाक होने के लिए एक घटा काफी है। इसलिए तोते के समान क्राति के सिद्धान्त रटने-रटाने से काम नही चलेगा। सिर्फ तोता पढाने से राष्ट्र प्रज्वलित नहीं होते।

मंत्र और तंत्र का संबंध

'इन्कलाब जि़न्दाबाद' इत्यादि कई तरह के मत्र अच्छे-अच्छे और पढ़े-लिखे आदमी भी रास्ते पर उच्चस्वर से चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ते हैं। पढे-लिखे लोग कहते है कि पुराने लोगो को मत्रो मे बेहद विश्वास था। मेरी शिकायत यह है कि आप लोगो का विश्वास मत्रों मे पुराने आदमियो की बनिस्बत कहीं अधिक है। स्वराज्य का मंत्र आप जनता तक कैसे पहुँचायंगे? इसका एक ही रास्ता है—मंत्र के साथ तत्र भी चाहिए। जनता के साथ सपर्क कायम रखने के लिए मंत्र की द्योतक किसी-न-किसी बाह्य कृति की जरूरत है। इतिहास में इस बात के सबूत विद्यमान है कि ऐसे तन्त्रयुक्त मंत्र से समूचे राष्ट्र प्रज्वलित हो उठते हैं।

विधान-पंचायत किसलिए ?

आज हम क्या माँग रहे हैं ? हम आज ही स्वतन्त्रता नहीं माँगते। वह 'सौदा' हम आज नहीं कर रहे हैं। हम इतना ही कहते हैं कि आप अपनी नेकनीयती साबित करने के लिए इतना तो करें कि हमारी विधान पंचायत की माँग मंजूर कर ले।

यह विधान-परिषद् क्या है ? आप सिर्फ शब्दों से चिपके न रहिए। स्वराज्य जब मिलेगा तब मिलेगा, पर शब्दों के जंजाल से तो, आज ही छुटकारा पाइए। विधान-परिषद् की माँग का इतना ही मतलब है कि हरएक बालिग व्यक्ति को मतदान का अधिकार हो, और वह किस तरह का राज्य चाहता है यह तय करने की उसे आजादी हो। अगर वह यह तय करे कि मौजूदा राज ही अच्छा है तो भी कोई हर्ज नहीं।

'हरिजन' मे बापू के नाम एक अंग्रेज का लिखा पत्र छपा है। वह कहता है कि सब लोगों की राय लेने के झंझट में पड़ने के बदले सयाने लोगों की सलाह से इसका निर्णय किया जाय। उसकी बात मुझे भी जँचती है। 'आदमी पीछे एक राय', यह बात तो मुझे भी बेतुकी-सी मालूम होती है। हरएक को एक ही राय क्यों ? एक ही सिर है इस-लिए ? सिर की तरफ ध्यान गया इसलिए 'फी आदमी' एक राय का नियम बना और अगर कानों की तरफ़ ध्यान जाता तो ? तब हरएक की दो-दो रायें होनी चाहिएँ, ऐसा कहते। "हरएक के दो कान होते हैं, इसलिए हरएक के दो रायें होनी चाहिएं।" हरएक को एक ही राय का अधिकार होना चाहिए, इसका मुझे कोई सयुक्तिक कारण नजर नहीं आता, सिवा इसके कि हरएक के एक ही सिर होता है। क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि एक मनुष्य में जितनी बुद्धि होती है उसकी अपेक्षा दूसरे में हजारगुनी अधिक होती है। फिर भी बापू ने उस अंग्रेज सज्जन को

जो जवाब दिया वह ठीक है। बापू पूछते हैं कि "ये सयाने लोग हैं कहाँ, और उनका प्रमाणपत्र क्या है?" यह सवाल मुझे भी कुण्ठित कर देता है। मै एक सयाने को दूसरे हजार आदमियो की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता हूँ। लेकिन इस सयानेपन का प्रमाणपत्र क्या हो? आज तो यही परिभाषा होगयी है कि वायसराय जिसे प्रमाणपत्र देदे वही सयाना है। इस तरह के सयानो ने गोलमेज-परिषद् मे जो घपला किया उसे दुनिया जानती है। अगर यह कहा जाय कि जिसे काग्रेस कहेगी वही सयाना समझा जाय, तो यह बात भी बहुत-से लोग मानने को तैयार नही है। हम अपने घरो मे भी यही करते है। जब किसी एक की या किसी बुजुर्ग की बात मानने के लिए परिवार के लोग तैयार नही होते तो हम सभी की राय ले लेते है। वही अब तय किया गया है। विधान-पंचायत द्वारा हम इस प्रश्न का निपटारा करनेवाले है।

बोलती चिपरियाँ और गूँगे आदमी

कहा जाता है कि इन निरक्षर लोगो की राय लेने से काम कैसे चलेगा? मै कहता हूँ कि लिखने पढने का यह व्यर्थ बोलबाला क्यों? बिना तकलीफ के दूसरे लोगो के भेजों में ज्ञान ठूँस देने की आलसी लोगो की हिमाकत का नाम है लिखना-पढ़ना। इस लिखने-पढने से बहुत नुक्सान हुआ है। सेगॉव के महात्मा गॉधी किशोरलाल भाई से कुछ कहना चाहते है तो एक पुरजे पर लिखकर वन्द लिफाफे मे भेजते हैं। वह लिफाफा लेकर एक अनाड़ी आदमी किशोरलाल भाई को दे देता है और वे बापू की बात समझ लेते है। बचपन मे हम 'बोलती चिपरी' (टाकिंग चिप)* का किस्सा पढ़ा करते थे। लोग कहते हैं कि

---

* 'टाकिंग चिप' (बोलती चिपरी) का क़िस्सा—दक्षिण अफ्रीका में एक अंग्रेज़ को दूसरे अंग्रेज के पास एक छोटा सा सन्देश भेजना था। लिखने-लिखाने का सामान पास था नहीं। एक चिपरी (लकड़ी के टुकड़े)

"देखो क्या चमत्कार है ! पढने-लिखने की कला की बदौलत चिपरियॉ भी बोलने लगीं ।" मेरी यह शिकायत है कि सिर्फ चिपरियॉ ही बोलने-वाली नहीं हुईं, बल्कि बोलनेवाले चिपरियो-जैसे गूँगे हो गये । अगर लिखने की कला न होती तो गॉधीजी को अपनी जगह छोड़कर किशोर-लालभाई के पास जाना पडता । लेकिन हमेशा ऐसा करना मुश्किल है । इसलिए दूसरा उपाय यह करना पड़ता कि उन्हे अपने आसपास के लोगों को अच्छी तरह समझा-बुझाकर होशियार बनाना पडता कि वे ठीक-ठीक सदेसा पहुँचा सके । लेकिन लिखने की कला की बदौलत आदमियो का काम चिपरियॉ बनाने से चल सकता है । गॉधीजी के पास जितने बेव-कूफ आदमी रह सकते हैं उतने क्या कभी प्राचीन ऋषियो के पास रह सकते थे ? आज चिट्ठी के ज़रिये गॉधीजी की बात बीच के आदमियों को लॉघकर मेढक (?) के समान छलॉग मारकर किशोरलाल भाई के पास पहुँच जाती है । "हिन्दुस्तान के लोग भेड-बकरियो की भॉति अपढ़ है, तभी तो तीन-चार लाख गोरे उनपर राज्य कर सकते हैं । इतनी तो भेड़ें भी कोई नही सँभाल सकता ।" इस तरह की बातें मैं अक्सर व्याख्यानो मे सुनता हूँ । मेरा जवाब यह है कि अगर हिन्दुस्तान के लोग भेड होते तो उनकी देखभाल के लिए बहुत-से लोगों की जरूरत पडती । वे आदमी हैं—और ज़िम्मेदार और समझदार आदमी हैं—इसलिए उनकी राज्य-व्यवस्था के लिए बहुत आदमियो की जरूरत नहीं । ये फालतू तीन-चार लाख गोरे जब नहीं थे तब भी उनका राज्य खूब अच्छी तरह चलता था ।

पर लिखकर वहाँ के एक आदिमवासी को दे दिया । उसने हाथ में लेकर पूछा, क्या कहना होगा ? साहब बोला, यह चिपरी बोल देगी । पानेवाले ने लानेवाले से कहा, ठीक है, समझ गया । आदिमवासी ने समझा चिपरी ने इसे बोल दिया । उसे इस 'बोलती चिपरी' पर बड़ा अचरज हुआ ।

यहाँ के लोग अपढ़ भले ही हो, लेकिन अजान नहीं है। हमारे यहाँ इसपर कभी बहस नही हुई कि स्त्रियो को मतदान का अधिकार हो या नही। यूरोप मे स्त्रियो को मतदान के अधिकार के लिए पुरुषो से लडना पडा। हमारे यहाँ एनी बेसेण्ट और सरोजिनी देवी का कॉंग्रेस का अध्यक्षपद प्राप्त करना स्वाभाविक माना गया।

मतलब यह कि यहाँ के लोग समझदार और अनुभवी है। पढ़े-लिखे न हों, तो भी विधान-पचायत के लिए प्रतिनिधि चुनने के लायक़ हैं।

फ़रवरी, १९४०]

: १० :

खादी और गादी की लड़ाई

सोनेगाँव की खादी-यात्रा में शिष्ट लोगो के लिए गादी (गद्दी) बिछायी गयी थी। 'शिष्ट' की जगह चाहे 'विशिष्ट' कह लीजिए, क्योंकि वहाँ जो दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौके पर मुझे कहना पडा था कि खादी और गादी की अनबन है, दोनो की लड़ाई है और अगर इस लड़ाई मे गादी की ही जीत होनेवाली हो तो हम खादी को छोड दे।

लोग कहते हैं, 'खादी की भी तो गादी बन सकती है?' हाँ, बन क्यो नहीं सकती? अंगूर से भी शराब बन सकती है। लेकिन बनानी नहीं चाहिए और बनाने पर उसे अगूर में शुमार न करना ही उचित है।

हमें ध्यान देना चाहिए भावार्थ की तरफ। बीमार, कमजोर और वृद्धो के लिए गादी का इन्तजाम किया जाय तो बात और है। लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं उनमे और दूसरों में फर्क करके उनके लिए भेद-दर्शक गद्दी तकिये का आसन लगाना बिल्कुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरह की गादी और खादी में विरोध है।

वास्तव मे तो जो गादी हमेशा आलसी लोगों और खटमलों की सोहबत करती है उसे शिष्ट जनो के लिए बिछाना उनका आदर नहीं बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इस में अपना अपमान नहीं समझते। हमने तो यहाँतक कमाल कर दिया कि शंकराचार्य की भी गद्दी बनाने से बाज़ नहीं आये। शंकराचार्य तो कह गये—

"कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः"—"लँगोटिये ही सबसे बडभागी है।" और किसीको उनकी यह बात चाहे जॅचे या न जॅचे, कम-से-कम आचार्य के भक्तो को तो जॅचनी चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते हैं और गिरते है। लेकिन आलस्य, विलासिता और जड़ता कभी ऊपर उठती ही नहीं। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्म के लिए फकीर बने हैं।" लेकिन पेशवा तो पानीपत की लड़ाई के लिए भी सकुटुम्ब, सपरिवार गये, मानो किसी बरात मे जा रहे हो। और वहॉ से कार्य-सिद्धि से हाथ धोकर अपना-सा मुॅह लेकर लौटे! गिबन ने कहा है—"रोम चढा कैसे?" "सादगी से", "रोम गिरा कैसे?" "भोग-विलास से।"

कुछ साल पहले, असहयोग के आरम्भकाल मे, देश के युवको और बूढो मे, पुरुषो और स्त्रियो मे, त्यागवृत्ति और वीरता का सचार होने लगा था। सत्रह-सत्रह आने गजवाली खादी—टाट जैसी मोटी—लोग बड़े अभिमान से बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमान से खरीदते थे। आगे चलकर धीरे-धीरे हम खादी का कुछ और ही ढग से गुणगान करने लगे। खादी बेचनेवाले गर्व से कहने लगे, "देखिए अब खादी मे कितनी तरक्की हो गयी है? बिलकुल अप-टू-डेट—अद्यतन-पोशाक, विलासी, भड़कीली, महीन, जैसी आप चाहे, खादी की बनवा लीजिए। और सो भी पहले की अपेक्षा कितने सस्ते दामो मे!" खरीदार भी कहने लगे, "खादी की प्रतिष्ठा इसी तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े और एक दिन वह मिल के कपड़े की पूरी-पूरी बराबरी करे।" लेकिन उनकी समझ मे यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादी को मिल के कपड़े की ही बराबरी करनी है तो फिर खादी की जरूरत ही किसलिए है? मिले ही क्या बुरी है? वैद्य अपनी दवाई की तारीफ करने लगा, "बिलकुल सस्ती दवाई है, न परहेज़ की जरूरत, न पथ्य की।" मरीज़ आ गया

चकमे में। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि "पथ्य-परहेज़ नहीं तो फ़ायदा भी नहीं।"

कोई गलत अर्थ न समझे। कहने का यह मतलब कतई नहीं है कि मज़दूरों को पूरी-पूरी मज़दूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। यह भी कोई नहीं कहता कि खादी सब लोगों की सब तरह की ज़रूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादी का गौरव किस बात मे है? किसीकी आँखें बिगड़ गयी हो तो उसे ऐनक ज़रूर देनी चाहिए। लेकिन ऐनकधारी को देख उसे 'पद्मलोचन' कहकर उसकी बड़ाई तो नहीं की जा सकती।

यहाँ एक प्रसंग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कलाधर एक बार पंढरपुर जाकर विठोबा के दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा, "विठोबा के सारे भक्त उनके रूप की प्रशंसा करते नहीं अघाते, उनके उद्घोष (स्लोगन्स) सुन-सुन कर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्त्ति को देखकर कहीं भी सुन्दरता का ख़याल नहीं आया! एक निरा बेडौल पत्थर नज़र आया! मूर्त्तिकार और भक्तगण दोनो, मुझे तो ऐसा लगता है कि, यदृच्छालाभ से ही सन्तुष्ट हो गये। पचतन्त्रवाले क़िस्से में जिस तरह उन तीन धूर्तों ने सिर्फ़ बार-बार कह-कहकर बकरे को कुत्ता बना दिया, ठीक उसी तरह इन लोगों ने चिल्ला-चिल्लाकर एक बेडौल पत्थर में सुन्दरता निर्माण करने की ठान ली है।" मैंने जवाब दिया, "हाँ, यही बात है। इस ससार की भीगा नदी मे गोते खानेवालों को उबारने का जिसने प्रण किया है उसे तो मज़बूत, दृढ़, ठोस और हट्टा-कट्टा ही होना चाहिए। वह यदि शेष-शय्या पर लेटनेवाले या पचायतन का ठाट जमाकर तसवीर खिंचवाने के लिए आसन लगानेवाले देवता की सुन्दरता का अनुकरण करे तो क्या यह उसे शोभा देगा?" रामदास ने सिखाया है—"मनुष्य के अन्तरग का शृंगार है चातुर्य; वस्त्र

तो केवल बाहरी सजावट है। दोनो मे कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो।" इसीलिए शिवाजी को हट्टे-कट्टे मावलो-जैसे साथी मिले।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा, "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस, फिर उसी दरिद्रनारायण की पूजा मे मगन हो गये! यहाँ दरिद्रता के पुजारी नही है। अपने राम तो वैभव के आराधक हैं।" मै उससे कहना चाहता हूँ, "मेरे दोस्त, इस तरह अक्ल के पीछे लट्ठ लेकर मत पडो। हम कब दारिद्र्य को नारायण कहते है? हम तो 'दरिद्र' को नारायण के नाम से पुकारते हैं। और 'दरिद्र' को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोडे ही है कि धनिक 'नारायण' नही हो सकता? यदि मै कहूँ कि 'मै ब्रह्म हूँ' तो इसका यह अर्थ थोडे ही है कि 'तुम ब्रह्म नहीं हो?' बस, अब तो सन्तोष हुआ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्रनारायण की पूजा उसकी दरिद्रता दूर करने से पूरी होती है, और श्रीमन्नारायण की पूजा उसे सच्चे ऐश्वर्य का अर्थ समझाकर उसका त्याग करवाने से होती है, और जब किसी मूर्ख-नारायण से पाला पडे तो उसकी पूजा इस प्रकार विश्लेषण करके समझाने से होती है! क्यो, ठीक है न?"

लेकिन, इस यथार्थ विनोद को जाने दीजिए। अगर समाजवादी दोस्त को वैराग्य नही सुहाता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिए और वह कैसे प्राप्त किया जाता है, इन बातो को भी रहने दीजिए। लेकिन समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो है न? दो-चार आदमियो को नरम-नरम गादी मिले और बाकी सबको टाट के चीथड़े या धूल नसीब हो, यह तो उसे नहीं भाता न? जब मैंने खादी और गादी की लडाई की बात छेडी तो मेरे मन मे यह अर्थ भी तो था ही। सब लोगो के लिए गादी लगायी गयी होती तो दूसरा ही सवाल खड़ा होता। लेकिन यह मुमकिन नहीं था। और मुमकिन नहीं था इसीलिए मुनासिब भी नहीं था, यह ध्यान मे आना जरूरी था।

आजकल हमारे कुछ दोस्तो मे, एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहार का बडा जोर है। साम्यवाद और विषम व्यवहार बड़े आनन्द से साथ-साथ चल रहे है। फैजपुर के बाद हरिपुरा की काग्रेस ने विषमता की दिशा मे एक कदम और आगे बढ़ाया। अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, बड़े नेता, छोटे नेता, प्रतिनिधि, माननीय दर्शकगण और देहाती जनता—इन सबके लिए वहाँ दर्जेवार प्रबन्ध किया गया था। गाधीजी के लिए यह दारुण दुःख का विषय था, यह बात जाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौकों पर ही होता हो, सो बात भी नहीं। हमारे जीवन और मन में उसने घर कर लिया है। "मजदूरों को पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नहीं", इस विषय पर बहस हो सकती है; पर, "व्यवस्थापकों को पूरा वेतन दिया जाय या नहीं", इसकी बहस कोई नहीं छेडता। जिन्हे हम देहात की सेवा के लिए भेजते हैं उन्हे अपना रहन-सहन ग्राम-जीवन के अनुकूल बनाने की हिदायतें देते है। उन्हें देहात में भेजने और हिदायतें देने को तो हम तैयार रहते है, लेकिन हमें इस बात की तीव्र तो क्या, तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि स्वयम हमको भी अपनी हिदायतों के अनुसार चलने की कोशिश करनी चाहिए। साम्य की भेद से दुश्मनी है, लेकिन विवेक से तो नहीं है? इसीलिए बूढ़ों के लिए गादी हमने मजूर कर ली है। इसी तरह देहात की सेवा के लिए जानेवाले युवक कार्यकर्त्ता और उन्हे वहाँ भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओं के जीवन मे थोडा-बहुत फर्क होना न्याय-सगत है और विवेक उसे मंजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धात की भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोडा-बहुत नहीं है। अक्सर वह बहुत मोटा, नजर में सहज ही आनेवाला ही नहीं बल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम वैभव का नाम गादी है। और इस गादी से खादी की दुश्मनी और लड़ाई है।

हाल ही मे आश्रम मे एक बात की चर्चा हो रही थी। आश्रम की आबादी बढ रही है, इसलिए अब नयी जगह मोल लेकर ग्राम-रचना-शास्त्र के अनुसार व्यवस्थित नकशा बनाना चाहिए। बुनकर, कातनेवाले, बढई आदि मज़दूर और व्यवस्थापक-वर्ग, परिवार, दफ्तर के कार्यकर्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदि के लिए किस प्रकार के मकान बनवाने चाहिएँ, यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला ख़ुद साम्यपूजक तो था ही, और मै साम्यवादी हूँ यह भी जानता था। मैने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूप मे कहा—"मै दाल हज़म नहीं कर सकता, इसलिए दही खाता हूँ। मज़दूर को दही का शौक तो है, लेकिन वह दाल हजम कर सकता है। इसलिए दाल से काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेक की दुहाई देकर-हजम कर गये। लेकिन क्या हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होना जरूरी है? जिस तरह के मकान मे मजदूर अपनी जिन्दगी बसर करता है उसी तरह का मकान मेरे लिए भी काफी क्यो नही हो सकता? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकान के समान क्यो न हो?"

आप चाहे वैराग्य का नाम ले चाहे वैभव का, विपमता को बर्दाश्त हरगिज़ न कीजिए। इसीका नाम है "आत्मौपम्य"। सच्चा साम्यवाद यही है। उसपर तुरन्त अमल किया जाना चाहिए। साम्यवाद का कोई महत्त्व नहीं है; महत्त्व है "तत्काल साम्यवाद" का। साम्यवाद को तुरन्त कार्यान्वित करने की सिफ़त का नाम अहिसा है। अहिंसा हरएक से कहती है कि "तू अपने-आप से प्रारम्भ करदे तो तेरे लिए तो आज ही साम्य-वाद है।" अहिसा का चिह्न है खादी। खुद खादी ही अगर भेदभाव सहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथो अपना गला घोट लिया।

इस सारे अर्थ का सग्राहक सूत्र-वाक्य है—"खादी और गादी मे लड़ाई है।"

: ११ :

निर्दोष दान और श्रेष्ठ कला का प्रतीक—खादी

खादी पहनने मे महान् धर्म है। हम लोगो में धर्म करने की वृत्ति है। दान करने की वृत्ति भी है। यह बहुत अच्छी बात है। इस भूमि मे अनेक साधु-सन्त पैदा हुए और उन्होंने भारतीय जीवन को दान-भावना से भर दिया है। आप सब सालभर मे कुछ-न-कुछ दान करते हैं, धर्म करते हैं। लेकिन दान करते समय आप कभी विचार भी करते हैं? आज तो हमने विचार से इस्तीफा ही दे दिया है। विवेक अब हमारे पास रहा ही नहीं। विचार का चिराग बुझ जाने से आचार अधा हो गया है। मेरे नज़दीक विचार या बुद्धि की जितनी कीमत है उतनी तीनों लोक में और किसी चीज़ की नहीं है। बुद्धि बहुत बडी चीज़ है। आप जब दान देते हैं तो क्या सोचते हैं? चाहे जिसे दान दे देने मे क्या वह धर्म-कार्य भली भाँति हो जाता है? दान और त्याग में भेद है। हम त्याग उस चीज़ का करते हैं जो बुरी होती है। अपनी पवित्रता को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिए हम उस पवित्रता में बाधा डालनेवाली चीज़ों का त्याग करते हैं। घर को स्वच्छ करने के लिए कूडे-करकट का त्याग करते हैं, उसे फेंक देते हैं। त्याग का अर्थ है फेंक देना। लेकिन दान का मतलब फेंकना नहीं है। हमारे दरवाजे पर कोई भिखारी आगया, कोई बाबाजी आगये, देदी उसे एक मुट्ठी या एकाध पैसा—इतने से दानक्रिया नहीं होती। वह मुट्ठी-भर अन्न आपने फेंक दिया, वह पैसा फेंक दिया। उस कर्म में लापरवाही है। उसमें न तो हृदय है और न बुद्धि। बुद्धि और,

भावना के सहयोग से जो क्रिया होती है वही सुन्दर होती है। दान के मानी 'फेंकना' नहीं, बल्कि 'बोना' है।

बीज बोते समय जिस तरह हम जमीन अच्छी है या नहीं इसका विचार करते है, उसी तरह हम जिसे दान देते है वह भूमि, वह व्यक्ति, कैसा है इस तरफ़ ध्यान देना चाहिए। किसान जब बीज बोता है तो एक दाने के सौ दाने करने के खयाल से बोता है। वह उसे बडी सावधानी से बोता है। घर के दाने खेत मे बोता है। उन्हे चाहे जैसे बेतरतीब बखेर नहीं देता। घर के दाने तो कम थे लेकिन वहाँ खेत मे वे सौगुने बढ गये। दान-क्रिया का भी यही हाल है। जिसे हमने मुट्ठी-भर दाने दिये, क्या वह उनकी कीमत बढायेगा? क्या वह उन दानो की अपेक्षा सौगुने मूल्य का कोई काम करेगा? दान करते समय लेनेवाला ऐसा ढूढिए जो उस दान की कीमत बढ़ाये। हम जो दान करे वह ऐसा हो जिससे समाज को सौगुना फायदा पहुँचे। वह दान ऐसा हो जो समाज को सफल बनाये। हमे यह विश्वास होना चाहिए कि उस दान की बदौलत समाज मे आलस्य, व्यभिचार और अनीति नही बढ़ेगी। आपने एक आदमी को पैसे दिये, दान दिया और उसने उनका दुरुपयोग किया, उस दान के बल पर अनीतिमय आचरण किया; तो उस पाप की ज़िम्मेदारी आपपर भी है। उस पापमय मनुष्य से सहयोग करने के कारण आप भी दोषभागी बने। आपको यह देखना चाहिए कि हम असत्य, अनीति, आलस्य, अन्याय से सहयोग कर रहे हैं या सत्य, उद्योग, श्रम, लगन, नीति और धर्म से। आपको इस बात का विचार करना चाहिए कि आपके दिये हुए दान का उपयोग होता है या दुरुपयोग। अगर आप इसका खयाल न रखेंगे तो आपकी दान-क्रिया का अर्थ होगा किसी चीज को लापरवाही से फेंक देना। हम जो दान देते है उसकी तरफ हमारा पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए। दान का अर्थ है बीज बोना। आपको

"लीजिए, यह बाबाजी अब हमे हिसाब रखना सिखायेंगे ! यहाँ तो सारी उम्र जमा-खर्च में ही गुज़री है ।" लेकिन मैं फिर साफ-साफ कहता हूँ कि आप जमा-खर्च नहीं जानते। यह आपको मुझसे सीखना चाहिए ।

लोग कहते है कि खादी महँगी होती है । मैने दोपहर को कुछ मित्रो को हिसाब करके दिखा दिया कि वह महँगी नहीं है । उन्होने मुझे ऑकड़े बतलाये । साल मे अगर मिल का कपडा १०) का खरीदना पड़े तो उतनी ही खादी के दाम १५) हो जाते हैं । मतलब यह कि हर महीने साढ़े छः आने ज्यादा देने पड़ते हैं । यानी हर रोज़ करीब ढाई पाई, अर्थात् लगभग कुछ नही । जो जनता स्वराज्य प्राप्त करना चाहती है वह अगर रोज़ ढाई पाई भी न दे सकती हो और पाँच तोले अधिक वज़न ढोने के कारण खादी न बरत सकती हो, तो वह साफ़ शब्दों में यही क्यो नही कह देती कि हमे न स्वराज्य की चाह है और न स्वतन्त्रता की । लेकिन इसे जाने दीजिए । मैं दूसरी ही बात कहूँगा । आप जब मिल का कपडा खरीदते है तो १०) कपडे खाते खर्च लिखते हैं और खादी खरीदते है तो लिखते है १५) कपड़े खाते नाम । लेकिन मैं कहता हूँ कि खादी का हिसाब लिखने मे आपको १५) खादी-खाते खर्च नहीं लिखना चाहिए । १५) के दो भाग कीजिए । १०) का कपड़ा और ५) दान-धर्म, कुल मिलाकर १५) इस तरह हिसाब लिखिए । आपको जो ५) अधिक देने पड़े वे दूर रहनेवाले श्रमिकों को मिले । यह वास्तविक दान-धर्म है । खादी कितने लोगों को आश्रय दे सकती है, इसका विचार कीजिए । हमारे देश की मिले तिहाई हिन्दुस्तान के कपड़ों की ज़रूरत पूरी करती है । अगर हम यह समझ लें कि उनमे पाँच लाख मजदूर काम करते हैं तो हिन्दुस्तान की मिलों का कपड़ा खरीदने से पाँच लाख मजदूरों को रोजी मिलती है । सारे हिन्दुस्तान की ज़रूरत पूरी करने-लायक कपड़ा तैयार करने का वे इरादा करलें तो १५ लाख मजदूरों को

काम मिलेगा। परन्तु खादी?—खादी करोड़ो मज़दूरो को काम दे सकती है। अगर हम विलायती कपडा बिल्कुल न खरीदे तो मिल के जरिए १५ लाख मज़दूरो को काम दे सकते है। लेकिन अगर खादी मोल ले तो करोडो मजदूरो को काम दे सकते है। खादी न खरीदना करोडो लोगो के मुँह का कौर छीन लेने के बराबर है। आधुनिक अर्थशास्त्र का सबसे बडा सिद्धान्त यह है कि सम्पत्ति का जितना वितरण हो उतना ही समाज का कल्याण होगा। किसी एक के पास दौलत न रहने पाये, वह बॅट जानी चाहिए। यह बात खादी के द्वारा ही हो सकती है। मिल का पैसा मिलवाले और उनके हिस्सेदारो की जेब मे जाता है। खादी के द्वारा उसका वितरण होता है। आना-आना, आध-आध आना उन गरीबो को मिलेगा जो सारे देश मे फैले हुए है। रत्ती-रत्ती या पाई-पाई का ही फायदा क्यो न हो, लेकिन सबका होगा; जैसे वृष्टि की बूँदे होती है। किसी नल की धार कितनी ही मोटी और वेगवती क्यो न हो, वह एक ही जगह बड़े ज़ोर से गिरती है, सारी पृथ्वी को हरियाली से सुशोभित करने की शक्ति उसमे नहीं है। वर्षा रिमझिम रिमझिम पडती है, लेकिन वह सर्वत्र पडती है, मिट्टी के कण-कण को वह अलकृत करती है। सूर्य का प्रकाश, हवा, वर्षा, ये सब परमात्मा की ऐसी महान् देने है जो सबको मिलती है। खादी मे भी यही खूबी है। जो दैवी गुण, जो व्यापकता वृष्टि मे है वही खादी मे भी है।

हमारे शास्त्रकारो ने दान की व्याख्या ही "दानं संविभाग." की है। दान का अर्थ है जो एक जगह इकट्ठा हो उसे सर्वत्र सम्यक् बॉट देना। यह क्रिया खादी के द्वारा ही सम्पन्न होती है। महाभारत मे अर्थशास्त्र का एक महान् नियम बताया गया है, व्यापक और सनातन अर्थशास्त्र के स्वरूप का वर्णन किया गया है। "दरिद्रान् भर कौन्तेय, मा प्रयच्छेश्वरे धनम्"—"जो महेश्वर है, श्रीमान् है उसे दान न दो, बल्कि जो दरिद्री है उसकी ज़रूरत पूरी करो।" श्रीमानो के भरण की

जरूरत नहीं है, जो दरिद्री है उनके पेट के गढ़े को पाटना है। उनको भर दो। यह सनातन सत्य है। आप ज़री की शाल या मिल का कपड़ा खरीदते हैं तो पैसा श्रीमान् की तिजूरी में जाता है। जो गलेतक ठूँस चुका है और खा-खाकर ऊब गया है उसी को आपने फिर खड़ी खिला दी। यह तो अधर्म हुआ, अन्याय हुआ। परन्तु यदि आपने खादी खरीद ली तो वह धेला-पैसा दरिद्रनारायण के घर मे जायगा। महाभारत और शास्त्र-कार यही तो कहते है।

कोई-कोई कहते हैं, खादी मे कला नही है। उसमें तरह-तरह के रंग नहीं हैं। जो ऐसा कहते हैं वे कला का अर्थ ही नहीं समझते। मैं भी कला की कद्र करनेवालो में से हूँ। एक बार मैं अपने एक मित्र के घर गया। वह मित्र पैसेवाला था। उसने पचास रुपये में एक सुन्दर चित्र खरीदा था। उस चित्र के रग वह मुझे दिखा रहा था। एक जगह बहुत ही सुहावना गुलाबी रंग था। उसे दिखाकर वह बोला, "कैसा सुन्दर है! क्यो?" मैंने जवाब दिया, "ऊँऽऽहूँऽ"। उसने कहा, "शायद आपको चित्रकला मे रुचि नही है?" मैंने उससे कहा, "भलेमानस, मुझे चित्रकला मे खूब रुचि है। सुन्दर चित्रो के देखने मे मुझे अपार आनन्द आता है। लेकिन कहीं सुन्दर चित्र ही नही हैं! मुझे चित्रकला से प्रेम है; उच्च चित्र-कला की मैं कद्र करता हूँ। तुम्हारी अपेक्षा मुझे चित्रकला का ज्ञान अधिक है, मैं उसका मर्म समझता हूँ। इस चित्र का यह गुलाबी रंग सुन्दर है। लेकिन मैं तुमसे दूसरी ही बात कहना चाहता हूँ। इस चित्र के तुमने पचास रुपये दिये। ज़रा हरिजनों की बस्ती में जाकर देखो। वहाँ तुम फीके चेहरेवाले बच्चे पाओगे। रोज़ सवेरे वहाँ जाओ, पन्द्रह मिनट चलना पड़ेगा। रोज़ एक सेर दूध लेकर जाया करो और बच्चों को पिलाया करो। फिर एक महीने बाद उन लड़कों के मुँह देखो। उन स्याह और फीके रंगवाले चेहरों पर गुलाबी रंग आ जायगा। खून की मात्रा

बढने से चेहरे पर लाली आ जायगी। अब तुम्ही बतलाओ, इस निर्जीव चित्र मे जो गुलाबी रग है वह श्रेष्ठ है या वह जो उन जीवित चित्रो मे दिखाई देगा ? वे बालक भी इस चित्र-जैसे सुन्दर देख पड़ेगे। मेरे भाई, ये जीवित कला के नमूने मरते जा रहे है। इन निर्जीव चित्रो को लेकर कला के उपासक होने की डींग मारते हो और इस महान् दैवी कला को मिट्टी मे मिलने देते हो।" इसी प्रकार का अविचार यहाँ भी हो रहा है। खादी के द्वारा आप वास्तविक कला-पूजक बनेंगे, क्योंकि दरिद्रनारायण के चेहरे पर ताज़गी, सुर्खी ला सकेंगे। समाज मे जो भाई मरणोन्मुख है उन्हे जिला कर समाज मे दाखिल करा सकेंगे। इससे बढ़कर कला कौन-सी हो सकती है ?

खादी के द्वारा द्रव्य का वितरण होता है। वह अत्यन्त मोहताज, मेहनती और दरिद्र मजदूरो को मिलता है। खादी के द्वारा कला की—जीवित कला की उपासना होती है। ईश्वर के बनाये जीवित चित्रो को न कोई धोता है, न पोछता है और न सजाता है। उधर निर्जीव चित्रो को सुन्दर-सुन्दर चौखटो से सजाते हैं, लेकिन इधर दरिद्र बालको के शरीर पर न कपड़े हैं, न पेट मे अन्न। ये दिव्य चित्र खादी के द्वारा चमकेंगे।

इतना ही नही, खादी मे और भी कई बाते है। सबसे श्रेष्ठ दान कौन-सा है ? सभी धर्मों मे बार-बार एक ही बात कही गयी है—गुप्तदान श्रेष्ठ है। बाइबल मे कहा है, "तुम्हरा दाहिना हाथ जो देता हो उसे बायॉ हाथ न जानने पाये।" सब धर्मग्रथो की यही सिखावन है। खादी के द्वारा यह गुप्तदान होता है। यही नहीं, बल्कि खुद दाता भी यह नही जानता कि मै दान कर रहा हूँ, और न लेनेवाले को इसका पता होता है कि मै दान ले रहा हूँ। खरीदार कहता है, मैने खादी खरीदी। जिस गरीब को पैसे मिलते है वह सोचता है, मैने अपने श्रम का मेहनताना लिया। इसमे किसी का दबैल बनने की जरूरत नहीं; फिर भी इसमे दान तो है ही। दान

तो वही है जो किसी को दीन नहीं बनाता। दया या मेहरबानी से हम जो देते हैं उसके कारण दूसरे की गर्दन झुकाते है। समाज मे दो तरह के पाप है। एक की गर्दन जरूरत से ज्यादा तनी हुई—घमण्ड के कारण तनी हुई, और दूसरे की जरूरत से ज़्यादा झुकी हुई—दीनता से झुकी हुई होती है। ये दोनो पाप ही हैं। एक उन्मत्त और दूसरा दब्बैल तथा दुर्बल। गर्दन सीधी हो और लचीली भी हो। लेकिन न तनी हुई हो, न झुकी हुई। कर्मशून्य मनुष्य को बड़ी शान से जब हम प्रत्यक्ष दान देते हैं तब हम तो अपनी शान और मिज़ाज मे मस्त होते हैं और वह मगन दीन होता है। पाप दोनों तरफ़ है। खादी में गुप्तदान सिद्ध होता है। हमारे दिल मे तो दान की भावना भी नहीं होती, फिर भी दूसरे को मदद तो पहुँचती ही है। दान देनेवाले और लेनेवाले ने एक दूसरे को देखा तक नही। लेकिन वास्तविक धर्म पर अमल हो रहा है।

आजकल हम गुप्तदान की महिमा भूल गये हैं। यह विज्ञापन युग है। मेरी माँ मुझे वर्तमान गुप्तदान की पोल बताया करती थी। लड्डू के अन्दर चवन्नी या दुअन्नी रख दी जाती है लेकिन पण्डितजी से धीरे से कह दिया जाता है, "ज़रा धीरे-धीरे चबाइए, अंदर चवन्नी है।" गुप्तदान देने के लिए लड्डू मे चवन्नी रख दी जाती है, लेकिन अगर पण्डितजी को सतर्क न किया जाय तो बेचारे के दाँतो पर आफत आजाय। मतलब, फिर वह दान गुप्त तो नही रहेगा, किसी-न-किसी बहाने प्रकट होगा ही। आजकल समाज मे दानी लोग अपना नाम खुदवाते हैं। पैसे देते और कहते है, "हमारा नाम दे दीजिए।" यह अधःपतन है। मुझसे एक बार एक श्रीमान् कहने लगे, "मुझे कुछ रुपये देने हैं।" मैंने कहा, "बहुत अच्छा, लाइए।" उन्होंने कहा, "उस इमारत में मेरा नाम दे दीजिए।" मैंने जवाब दिया, "आपके रुपये मुझे नहीं चाहिए। इस प्रकार का दान लेने में मुझे आपकी आत्मा का घोर अपमान करने का

पाप लगेगा। आप खुद अपनी आत्मा का अपमान करने पर—पाप करने पर उतारू हो गये है, पर मै उसमे हाथ बँटाना नहीं चाहता। यह पाप है और आपको यह समझाना मेरा काम है।" इसमे आत्मा का कितना बडा अपमान है! क्या आप अपनी इच्छाओ को, अपनी अनन्त आत्मा को उन पत्थरो मे कैद करना चाहते है? इसीलिए हमारे पूर्वजो ने गुप्तदान की शिक्षा दी। आजकल के दान दरअसल दान ही नही है। आपने पैसे देकर इमारत पर अपना नाम खुदवाया। इसका मतलब तो यही हुआ कि आपने अपने हाथो अपनी कब्र बनवाली; आपने खुद अपनी बडाई करवाली। इसमें दान क्या किया? गुप्त दान बहुत ही पूजनीय वस्तु है। मैने आपसे कहा कि खादी खरीदने मे १०) खादी-खाते और ५) दानधर्म-खाते आप लिखें। यह जो साल भर मे दान-धर्म होगा वह गुप्त होगा। यह दान देते हुए—यह गुप्त दान देते हुए—आपको यह गर्व न होगा कि मै बडा उपकार कर रहा हूँ, और जिस गरीब को दो-चार आने मिलेंगे उसे भी किसीके दरवाजे पर जाकर "बाबा, एक मुट्ठी" कहने के बजाय, "मै अपनी मेहनत का खाता हूँ", यह अभिमान होगा। यह गुप्तदान का महान् धर्म भी खादी खरीदने से सिद्ध होगा। दूसरे दानो की जरूरत ही न रहेगी। असल मे वे दान ही नहीं है। दान वही है जो दूसरो को स्वाभिमान सिखाये। खादी खरीदने मे जो मदद पहुँचेगी, जो गुप्तदान दिया जायगा उसकी बदौलत मजदूरो को देहात मे ही काम मिलेगा, उन्हे अपना घरबार छोड़ना न पड़ेगा। देहात की खुली हवा मे वे रह सकेंगे। देहात छोडकर शहर मे आने पर वे कई बुरी आदतो और ऐबों के शिकार बन जाते हैं और उनके चरित्र तथा स्वास्थ्य का नाश होता है सो न होगा। देहातियो के शरीर और मन निरोग और निरालस रहेगे। मतलब, खादी के द्वारा जो दान होता है उससे समाज मे कितना कार्य हुआ यह देखना चाहिए। आदमियो

के शरीर और हृदय—उनकी शारीरिक शक्ति और चरित्र शुद्ध रखने का श्रेष्ठ उद्देश्य खादी द्वारा सफल होता है। इसी का नाम है बीज बोना। यही वास्तविक दान है, गुप्त दान है, सविभाग है, जीती-जागती और खेलतीहुई कला निर्माण करनेवाला दान है।

"दरिद्रान् भर कौन्तेय", "दानं संविभागः", इन सूत्रो को आप न भूले। आपके श्रेष्ठ पूर्वजो की यह दान-नीति है। जो अनीति और आलस को बढाता है वह दान ही नही है। वह तो अधर्म है। उस दान को देनेवाला और लेनेवाला दोनो पाप के हिस्सेदार होते हैं। दोनो "अवसि नरक-अधिकारी" है। इसलिए विवेक की आँख खुली रखकर दान कीजिए। यही कर्म-कुशलता है। आप दया-धर्म का पालन करते हैं। हृदय के गुण की तो रक्षा की, लेकिन बुद्धि के गुण का नाश किया। बुद्धि और हृदय का जब विलगाव होता है तो अनर्थ होता है। हृदय कहता है "दया करो, दान करो"; लेकिन "दया किस प्रकार करे, दान कैसे करें", यह तो बुद्धि ही सिखाती है, विचार ही बतलाता है। जहाँ बुद्धि और हृदय का संयोग होता है वहीं योग होता है। ज्ञान और बुद्धि की एकता का ही नाम योग है। यही कर्म-कुशलता है। आज दान महज एक रूढि है। जब आचार मे से विचार निकल जाता है तो निर्जीव रूढि ही बाकी रह जाती है। इसलिए विवेकयुक्त दान-धर्म सीखिए। दान-जैसी कोई स्वतन्त्र चीज़ ही नहीं रह जानी चाहिए। इस प्रकार के शुभदान समाज के नित्य के व्यवहार मे हुआ करते है। खादी के द्वारा इसका पालन कैसे होता है, यह मैंने दिखा दिया। अगर आप इसे ठीक समझते हो तो इसपर अमल करे।

हमारा जन्म इस भारत-भूमि में हुआ है। इस भूमि का प्रत्येक कण मेरे लिए पवित्र है। सैकड़ो श्रेष्ठ साधु-सन्त इस भूमि मे उत्पन्न हुए और लोगों को जगाते हुए विचरते रहे। इस धूलि को उनके चरणों का स्पर्श

हुआ होगा । जी चाहता है कि इस धूलि मे ख़ूब लोटूँ । "दुर्लभं भारते जन्म" । मेरे अहोभाग्य है कि मै इस भूमि मे पैदा हुआ । "मैं इस भारतवर्ष मे उत्पन्न हुआ", इस विचार से ही कभी-कभी मेरी आँखो से आसुओ की धारा बहने लगती है । आप ऐसी श्रेष्ठ भूमि की सन्तान है । आप अपने-आपको धन्य माने । आज जरा बुरे दिन आगये हैं । क्लेश, कष्ट, अपमान सहने पडते है । लेकिन इस विपत्ति में धीरज देनेवाला विचार भी तो पास ही है । हम सब आशा से काम करें, विवेकपूर्ण कर्म करे, अपने जीवन मे दर्शन का प्रवेश करें । मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही इस देश के अच्छे दिन आयेगे । लेकिन जरूरत है सुन्दर कृति की । वही कीजिए ।

: १२ :

श्रमदेव की उपासना

बाह्य अनुकरण

मनुष्य को प्रायः बाह्य अनुकरण की आदत रहती है। आकाश के तारों को देखकर जी ललचता है, इसलिए हम अपने मन्दिरों में कॉच की हाड़ियॉ और झाड़-फ़ानूस टॉगते है। आकाश के नक्षत्र तो आनन्द देते है, पर ये हॉडियॉ और झाड तो घर के अन्दर की स्वच्छ वायु को जलाते हैं। चार महीने की वर्षा के बाद धुलेहुए आकाश के अनगिनत नक्षत्रों को देखकर हमने दिवाली मनाना शुरू किया। छुटपन में हम एक वृक्ष के फल मे नारियल का तेल डालकर दिये जलाते थे। अब तो देहात मे भी भयानक धुऑ उगलनेवाले मिट्टी के तेल के दिये जलाये जाते हैं। इसी तरह देहात मे हम कॉग्रेस की नकल उतारते हैं। आरम्भ संगीत से करते हैं; चाहे लोग उसे समझें न। यह फलाना गेट, वह ढिमाका गेट, ऐसे दरवाजो के नाम भी रख लेते हैं। लेकिन अनुकरण अन्दर से होना चाहिए।

वैभव और वैराग्य

मेरा मतलब यह है कि काग्रेस में राष्ट्र का वैभव नजर आना चाहिए, लेकिन खादी-यात्रा के द्वारा तो उसका वैराग्य ही प्रकट होना चाहिए। हिमालय से निकलनेवाली गंगा गगोत्री के पास छोटी और शुद्ध है। प्रयाग की गगा मे नदियॉ, नाले और नालियाँ मिलकर वह वैभवशालिनी बन गयी है। दोनों स्थानो में वही पवित्र गगाजी हैं। लेकिन गंगोत्री

की गंगा यदि प्रयाग की गगा के अनुकरण का दम भरे तो प्रयाग की विशालता उसे प्राप्त होने के बजाय वह अस्वच्छ, अशुद्ध हो जायगी। कॉग्रेस के समान बडे-बड़े सम्मेलनो मे राष्ट्र का वैभव और सिद्धि प्रकट होती है। छोटी-सी खादी-यात्रा मे वैराग्य और शुद्धि के दर्शन होने चाहिए। हम चाहे कितनी ही कोशिश क्यो न करें, कॉग्रेस का वैभव देहात मे नही ला सकते। वहॉ तो देहातियो के दिल की ताकत और देहाती जीवट ही प्रकट होना चाहिए।

मुख्य वस्तु—देव-दर्शन

हम खादी-यात्रा मे क्यो एकत्र होते है? व्याख्यान, खेल-कूद, राष्ट्र-गीत के लिए नही। चाहे जिस तीर्थ-स्थान को ले लीजिए। तीर्थ-स्थान मे मेला लगता है। और भी हजारो चीजें होती है। लेकिन यात्री वहॉ किस लिए जाते है? देव-दर्शन के लिए। कोई कहेगा, उस पत्थर मे क्या धरा है जी! लेकिन तीर्थ-यात्री के लिए वह पत्थर नही है। उमरेड (नागपुर के पास की एक तहसील) के पास रहनेवाला एक अछूत लडका पंढरपुर जाता है। उसे कोई मन्दिर मे जाने भी नही देता। लेकिन वह तो वहॉ देवता के दर्शनो के लिए ही गया; हम उसे पागल भले ही कहे। पढरपुर के देवता से कोई मतलब नहीं है। लेकिन वहॉ जो मेला लगता है उससे लाभ उठाने के लिए वहॉ हम उस मौके पर खादी-ग्रामोद्योग की प्रदर्शनी का आयोजन करते है। पर हमारा उद्देश्य सफल नही होता। चाहे शुद्ध उद्देश्य से ही क्यों न हो, लेकिन यदि जनता को फॉसना ही है तो कम-से-कम मैं तो उसे सीधे अपना मतलब बताकर फॉसूँगा। खादी-ग्रामोद्योग का स्वतन्त्र मन्दिर हम क्यो नही बना सकते? दूसरे मेलो से लाभ उठाने की जरूरत हमें क्यो पडती है?

परिश्रम ही देवता है

खादी-यात्रा मे हम खादी, ग्रामोद्योग और अहिंसा के प्रेमी क्यो

एकत्र होते है ? मुझ-जैसे कई ऐसे आदमी भी होगे जिन्हे दो दिन रहने की फुरसत भी न हो। वे यहाँ किस खास चीज के लिए आये ? मेरा उत्तर है—सब मिलकर एकत्र कातने के लिए। परिश्रम हमारा देवता है, उसके दर्शनो के लिए। मेरी इच्छा गांधी-सेवा-संघ के सम्मेलन मे जाने की थी। सिर्फ इसलिए कि वहाँ सामुदायिक शरीर-श्रम का कार्यक्रम होता है। खादी-यात्रा मे यह गद्दी किसलिए ? खादी और गादी (गद्दी) की लड़ाई है। अगर इस लडाई में गादी की जीत होनेवाली हो तो हमको खादी छोड़ देनी चाहिए। दुबले-पतले, कमजोर आदमियों और बूढ़ो के लिए गादी का उपयोग भले ही होता रहे। हमे तो ज़मीन लीप-पोतकर अपना मुख्य कार्यक्रम करना चाहिए। दूसरे ही कार्यक्रम मुख्य होने लगें तो यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई किसान हमारे घर मेहमान आये, हम सुन्दर चौक पूरकर उसके सामने तरह-तरह की चटनी और अचारों के ढेर लगाकर थाली लगायें, लेकिन उसमे रोटी रखें केवल दो तोले ! वह बेचारा कहेगा कि मेरा इस तरह मज़ाक़ क्यो उड़ाते हो, भाई ? इसी प्रकार देहाती कहेंगे, हम यहाँ मज़दूरी करने के लिए आते है। क्या आप लोग हमारे साथ मजाक करने आते हैं ?

श्रीकृष्ण—प्रतिनिधि

दूसरे लोग हमसे पूछते है, तुम्हारा धर्म कैसा है ? श्रीकृष्ण की लोग जय बोलते हैं। लेकिन सौ मे निन्यानवे लोग गीता का नाम तक नहीं जानते। मुझे इसका इतना दुःख नही है। गोपालकृष्ण का नाम तो सब लोग जानते है न ? उनकी जीवनी तो सब जानते हैं न ? कृष्ण की महत्ता इसलिए नहीं है कि उन्होंने गीता का गायन किया। वह तो उनके जीवन के कारण है। द्वारकाधीश होने के बाद भी सारा राज-काज सँभालकर श्रीकृष्ण कभी-कभी ग्वालों के साथ रहने आया करते थे। गायें चराते थे, गोबर उठाते थे। उन्हे इस सारे काम से इतना प्रेम था, इसीलिए

आज भी लोगो के दिल मे उनके लिए इतना प्रेम है और वे उनका स्मरण करते है। परिश्रम के प्रतिनिधि बनकर भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ करते थे वह हमें अपना प्रधान कार्य समझकर करना है। इसके अलावा और जो कुछ करना चाहे कीजिए; पर अनुकरण का अभिनय न हो।

महात्माजी बिलकुल तंग आ गये है। अहिंसा के बल पर हमने इतनी मजिल तय की। लेकिन अब तो हमारी सरकार को भी हिन्दू-मुसल्मानो के दगो मे पुलिस और फौज बुलानी पडती है। अहिंसा के बल पर हम दगे शान्त नही करा सकते, यह एक तरह से अहिंसा की हार ही है। दुर्बलो की अहिंसा किस काम की ? कोई-कोई कहते है, इसमे मंत्रियो का क्या कुसूर है ? मै कहता हूँ, तिनके के बराबर भी कुसूर उनका नही है। लेकिन आखिर मन्त्री बनकर भी क्या हम यही करते रहेगे ? अँग्रेजो के आने से पहले भी तो हम यही करते थे—जब जरूरत होती, अँग्रेजो की सेना का आवाहन करते थे। तब और अब मे फिर भेद ही क्या रहा ? गाधी के देशभक्त अनुयायी भी हमारी फौज की शरण लेते है, इसकी अँग्रेजो को कितनी खुशी हो रही होगी ? अगर बिना फौज के काम ही न चलता हो तो अपनी फ़ौज खडी कीजिए। आज तो फौज मे चुन-चुनकर तामसी लोग भरती किये जाते है। कम-से-कम आप ऐसा तो न करेगे। आप देश की हालत जाननेवाले लोगो को फ़ौज मे भरती करेगे।

महात्माजी ने अपने दो लेखो मे यह बात साफ़ कर दी है कि अहिंसा वीरो की होनी चाहिए, दुर्बलो की कदापि नहीं। जब शस्त्र की धार शरीर मे लगती है तभी वीरता की परीक्षा होती है। आप अहिंसा का दम भरेगे और मरने से डरेगे तो ऐन मौके पर आपको पता चलेगा कि आप कायर है।

काग्रेस के ३१ लाख सदस्य बन गये है। लेकिन सख्या को लेकर हम क्या करे ? रोज़ जिन्हे एक ही जून रोटी नसीब होती है ऐसे सब लोगो

को सदस्य बनालें तो पैंतीस करोड़ सदस्य बन जायेंगे। दोनों जून खानेवाले को बनाना हो तो कम-से-कम चार-पाँच करोड़ को इनमें से कम कर देना पड़ेगा। सिंधिया के पास साठ हज़ार फौज थी। होलकर के पास चालीस हज़ार। लेकिन वेलज़ली ने पाँच हज़ार फ़ौज से उनको हरा दिया। क्यो? जब वेलज़ली ने चढ़ाई की तो सिंधिया के दस हज़ार जवान पाखाने गये थे और दस हजार सो रहे थे। इस तरह के तमाशबीन किस काम के? और फिर अहिंसा की लड़ाई मे ऐसे आदमियो से तो काम नहीं चलेगा। बड़ के पेड़ के नीचे जो लोग आराम करने आते हैं वे उसकी छाया से लाभ उठाते हैं; लेकिन उनमे से कोई उसके काम नहीं आयेगा।

मन्त्रि-पद स्वीकार कर लेने से लाभ चाहे जो हुआ हो, लेकिन एक बड़ा भारी नुकसान हुआ। लोगो की स्वावलम्बन की हिम्मत घटी हुई सी दीख पड़ती है। उधर वह बूढा (गाधी) बिल्कुल परेशान हो रहा है। संयुक्तप्रान्त की असेम्बली मे दगो के बारे में बहस होती है और मुसलमानो की ओर से शिकायत आती है कि मन्त्री जनता की अच्छी तरह रक्षा नहीं कर सके। अगर हमे हिंसा का ही मार्ग लेना था तो हमने ये अठारह साल अपने अच्छे-से-अच्छे लोगो को अहिंसा की शिक्षा देने में बिताने की बेवकूफ़ी क्यों की? जर्मनी और इटली की तरह इन नौजवानों को भी उत्कृष्ट फ़ौजी शिक्षा दी गयी होती? इसलिए गाधीजी कहते हैं कि मेरा मार्ग यदि बहादुरो के मार्ग के रूप में जँचता हो तो उसे स्वीकार करो, वरना छोड़ दो।

ग़रीबों की सत्ता

पैनार मे मैं मजदूरों के साथ उठता बैठता हूँ। मैंने उनसे कहा, तुम लोग अपनी मजदूरी इकट्ठी करके आपस मे बराबर-बराबर बाँट लो। आपको शायद सुनकर अचरज होगा, पर मजदूरों ने कहा, "कोई हर्ज

नहीं।" लेकिन इस प्रस्ताव पर अमल कैसे हो ? उनसे अलग रहकर ? जब मै भी उनमे शामिल हो जाऊँगा तब हम सब मिलकर उसपर अमल करेगे। आपको अपने हज़ार आन्दोलन छोडकर इस सची राजनीति की ओर ध्यान देना चाहिए। मजदूरो की मज़दूरी की शक्ति प्रकट होनी चाहिए। आप गरीबो के हाथो मे सत्ता देना चाहते है न ? तब तो उनके हाथो का ख़ूब उपयोग होने दीजिए। बचपन मे हम एक श्लोक पढा करते थे 'कराग्रे वसते लक्ष्मी'—अँगुलियो के अग्रभाग मे लक्ष्मी निवास करती है। तो फिर बताइए, क्या इन अँगुलियों का ठीक-ठीक उपयोग होना आवश्यक नही है ? क्या उनमे उत्तम कला-कौशल आना जरूरी नही है ? हम विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार कमेटी बनाते है। उसमे गद्दी, कलम, कागज और दूसरी हजार चीजे होती है। लेकिन चरखा, धुनकी नदारद। गाधी-सेवा-संघ मे हर महीने हजार गज कातने का नियम है। लेकिन शिकायत यह है कि उसका भी भली-भॉति पालन नहीं होता। ये स्वराज्य प्राप्त करने के लक्षण नहीं है। फिर तो आपका स्वराज्य सपने की चीज़ है। जबतक हम मजदूरो के साथ परिश्रम करने के लिए तैयार न होगे तबतक उनका हमारा 'एका' कैसे होगा ? जबतक हम उनमे घुल-मिल न जायँ तबतक हमारी अहिंसा की शक्ति प्रकट न होगी।

कताई की दर

कताई की मज़दूरी की दर बढायी जानेवाली है, इससे कुछ लोगो को शिकायत है। कुछ लोग कहते है कि मजदूरी चाहे जितनी बढाइए, लेकिन खादी सस्ती रहे। अब इस दलील के सामने अर्थशास्त्रज्ञ क्या अपना सिर पीटे ? कताई की दर बढाकर खादी सस्ती कैसे करे ? शायद इसका भी मेल बैठाने मे सफलता मिल जाय। लेकिन उसके लिए यन्त्र, तोप, हवाई जहाज आदि की सहायता लेनी पडेगी। शहर मे रहनेवाले जमनालालजी यदि कहे कि खादी सस्ती मिलनी चाहिए तो भले ही कहे, मगर देहात के

लोग भी जब यही कहने लगते है तो बड़ा आश्चर्य होता है। आप कहते है कि मजदूरो को जिन्दा रहने के लायक सुविधा हो। अंग्रेज भी तो दिलोजान से यही चाहते है कि हम जिये और जन्मभर उनकी मजदूरी करे।

मज़दूर और व्यवस्थापक

खादी का व्यवस्थापक यदि २०) वेतन लेता है तो त्यागी समझा जाता है। उसे निजी काम के लिए या बीमारी के कारण सवेतन छुट्टी मिल सकती है। लेकिन उसके मातहत काम करनेवाले को केवल डेढ़ आने मजदूरी मिलती है। निजी काम के लिए या बीमारी की छुट्टियाँ नदारद। हाँ, बिना वेतन के चाहे जितनी छुट्टियाँ लेने की सुविधा है। इन बेचारे मजदूरो को अगर खादी-यात्रा मे आना हो तो अपनी रोजी का त्याग करके आना पड़ता है और इसके अलावा यहाँ का खर्च भी देना पड़ता है। शायद तुलना कड़वी लगे। लेकिन कड़वे-मीठे का सवाल नही है; सवाल तो है सच और झूठ का।

कुछ लोग कहते है, समाजवादियो ने मजदूरो को फुसलाकर अपने पक्ष मे कर लिया है, इसलिए हमे मजदूरों मे जाकर उन्हे समाजवादियों के चगुल से छुड़ाना चाहिए। लेकिन आप मजदूरो मे किस ढँग से प्रवेश करना चाहते हैं? अगर अहिंसक ढग से उनमे शामिल होना है तब तो व्यवस्थापक और मजदूर में आज जो अन्तर है वह घटता ही जाना चाहिए। व्यवस्थापकों को मजदूरों के समान बनना चाहिए। मजदूरों का वेतन बढ़ाना चाहिए। "मजदूरो का वेतन बढ़ाकर उनका और एक विशेष वर्ग तुम निर्माण करोगे," ऐसा आक्षेप भी कुछ लोग करते है। तो फिर मुझपर यह भी आक्षेप क्यों न किया जाय कि मैं देश की सेवा करनेवाले देश-सेवको का ही एक खास वर्ग बनाने जा रहा हूँ? मजदूरी की दर बढ़ाये बिना मैं मजदूरो के साथ एकरूप किस तरह हो सकता हूँ? उनका और मेरा 'एका' कैसे हो सकता है?

श्रम की प्रतिष्ठा

किशोरलालभाई का आग्रह था कि शिक्षको को कम-से-कम २५) मासिक वेतन मिलना चाहिए। पौनार के मास्टरो को १६) माहवार मिलता है। मजदूरो को उनसे ईर्ष्या होती है। तीन साल पहले मेरे प्राण-पखेरू उड़ चुके थे, सो कताई के भाव बढते ही फिर इस शरीर मे लौट आये। बेचारो को दस-दस घटे मेहनत करनी पडती है, तब कही बडी मुश्किल से चार आने पैसे मिलते है। और यहॉ तो कम-से-कम खर्च छः आने का है। भला बताइए, मैं उनमे कैसे शामिल हो सकता हूॅ ?

आज तो श्रम की प्रतिष्ठा केवल वाङ्मय—साहित्य—मे है। इससे कोई फायदा नही। श्रम का अधिक मूल्य देना ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा बढाना है और इसका आरम्भ हम आप सबको मिलकर करना है।

यहॉ इतने खादीधारी आते है, लेकिन सब अपना-अपना चरखा या तकली नही लाते। यहॉ तकली भूलकर आना, मानो नाई का अपना उस्तरा भूल आना है! हम यहॉ खिलवाड़ के लिए नहीं आते। हमारी खादी-यात्रा मे वैराग्य का वैभव और श्रम की शक्ति प्रकट होनी चाहिए।

: १३ :

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आज तक खादी का कार्य हमने श्रद्धा से किया है। अब श्रद्धा के साथ साथ विचारपूर्वक करने का समय आ गया है। खादीवाले ही यह समय लाये हैं, क्योंकि उन्होने ही खादी की दर बढायी है।

सन् १९२० मे हमने सत्रह आने गज खादी खरीदी थी। मगर सस्ती करने के इरादे से दर कम करते-करते चार आने गज पडने लगी। चारो ओर "यंत्र-युग" होने के कारण कार्यकर्त्ताओं ने मिल के भाव दृष्टि मे रखकर धीरे-धीरे कुशलता-पूर्वक उसे सस्ता किया। इस हेतु की सिद्धि के लिए जहाँ गरीबी थी उन स्थानों मे कमसे-कम मजदूरी देकर खादी-उत्पत्ति का कार्य चलाना पडा। लेनेवालो ने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी। मध्यमवर्ग के लोग कहने लगे—अब खादी का इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि उसके भाव मिल के कपडे के बराबर हो गये है, वह टिकाऊ भी काफी है और महँगी भी नहीं है। अर्थात्, 'शुद्‌मुली और घनदुधी' इस कहावत के अनुसार खादी-रूपी गाय लोगों को चाहिए थी। उन्हे वह वैसी मिल गयी और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके हम महान् देश-सेवा कर रहे है।

यह बात तो गाधीजी ने सामने रखी है कि अब मजदूरों को अधिक मजदूरी दी जाय, उन्हे रोजाना आठ आने मिलने चाहिएँ। क्या यह भी लालबुझक्कड़ की बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गयी है? या उनके कहने में कुछ सार भी है? इसपर हमें विचार करना चाहिए। हम अभी

सांठ के अन्दर ही है, ससार से अभी ऊब नही गये है, दुनिया मे अभी हमें रहना है। यदि ये विचार हमे नहीं जॅचते तो यह समझकर हम इन्हे छोड सकते है कि यह खब्ती लोगो की सनक है। सच बात तो यह है कि जबसे खादी की मजदूरी बढी तबसे मुझमे मानो नयी-जान आ गयी। पहले भी मै यही काम करता था। मै व्यवस्थित कातनेवाला हूँ। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काम मे लाता हूँ। कातते समय मेरा सूत टूटता नही, यह आपने अभी देखा ही है। मै श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हूँ। आठ घटे इस तरह काम करने पर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। रीढ़ मे दर्द होने लगता था। लगातार आठ घटे काम करता था, मौनपूर्वक कातता था, एकबार पालथी जमायी कि चार घटे उसी आसन मे कातता रहता। तो भी मै सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्र मे इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मै करता रहता था। यह मजदूरी बढ़ गयी इससे मुझे आनन्द हुआ, कारण मै भी एक मजदूर ही हूँ। "घायल की गति घायल जाने।"

मेरे हाथ के सूत की धोती पॉच रुपये की हो, तब भी धनी लोग बारह रुपये मे खरीदने को तैयार है। कहते है, "यह आपके सूत की है, इसलिए हम इसे लेते है।" ऐसा क्यो ? मै मजदूरो का प्रतिनिधि हूँ। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हे भी दो। ऐसी परिस्थिति मे मुझे यही चिन्ता हो गयी कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिन्ता दूर हो गयी है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिंता पहननेवालो को मालूम हो रही है।

ससार मे तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार, (२) दूसरे धन्धे करनेवाले और (३) कुछ भी धन्धा न करनेवाले, जैसे बूढे, रोगी, बच्चे, बेकार वगैरह। अर्थशास्त्र का—सच्चे अर्थशास्त्र का यह नियम

है कि इन तीनों वर्गों मे जो ईमानदार हैं उन सबको पेटभर-अन्न, वस्त्र और आश्रय की आवश्यक सुविधा होनी ही चाहिए। कुटुम्ब भी इसी तत्त्व पर चलता है। जैसा कुटुम्ब मे वैसा ही समस्त राष्ट्र मे होना चाहिए। इसीका नाम है "राष्ट्रीय अर्थशास्त्र"—"सच्चा अर्थशास्त्र"। इस अर्थशास्त्र में सब ईमानदार आदमियो के लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए।' आलसी याने गैर-ईमानदार लोगो के पोषण का भार राष्ट्र के ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैण्ड-सरीखे देशो मे (जो यन्त्र-सामग्री से सम्पन्न हैं) दूसरे देशों की सम्पत्ति बहकर आती है, सब बाजार खुले हुए हैं, नाना प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त है, तो भी वहाँ बेकारी है। 'ऐसा क्यो ? इसका कारण है यन्त्र। इस बेकारी के कारण प्रति सप्ताह बेकारों को भिक्षा (डोल) देनी पड़ती है। ऐसे २०—२५ लाख बेकारो को मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। आप कहते हैं कि भिखारियों को काम किये बगैर अन्न न दो, पर वहाँ अन्नदान का रिवाज चालू है। इन लोगों को काम दीजिए। इन्हे काम देना कर्त्तव्य है। 'काम दो, नहीं तो खाने को दो', यह नीति इंग्लैण्ड मे है तो सारे संसार में क्यो न हो ? यहाँ भी उसे लागू कीजिए। पर यहाँ लागू करने पर काम न देकर १॥ करोड़ लोगो को अन्न देना पड़ेगा। यहाँ कम से-कम १॥ करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूँ। इतने लोगों को अन्न कैसे दिया जा सकेगा ? नहीं दिया जा सकता—मन मे ठान लिया जाय तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर, चूँकि इंग्लैण्डवाले दूसरे देशों की सम्पत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारी से राज करना हो तो ऐसा करना सम्भव नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश है, तो भी यहाँ ऐसा कोई धन्धा नहीं जो कृषि के साथ-साथ किया जा सके। जिस देश में केवल खेती होती

है वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहाँ हिन्दुस्तान मे तो ७५ प्रतिशत से भी ज़्यादा काश्तकार है। यहाँ की जमीन पर कम-से-कम दस हजार बरस से काश्त की जाती है। अमेरिका हिन्दुस्तान से तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहाँ की सिर्फ १२ करोड़ है। जमीन की काश्त केवल ४०० वर्ष पूर्व से ही हो रही है, इसलिए वहाँ की जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्र के काश्तकारो के हाथ मे और भी धन्धे दिये जायँ तभी वह सम्हल सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला, (२) गोपालन करनेवाला और (३) धुनकर कातनेवाला। काश्तकार की यह व्याख्या की जाय तभी हिन्दुस्तान मे काश्तकारी टिक सकेगी।

साराश, यह वर्त्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते हैं कि खादी का प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमे दुःख नहीं आनन्द है। खादी बीडी के बडल अथवा लिप्टन की चाय नहीं है। खादी एक विचार है। आग लगाने को कहे तो देर नहीं लगती, पर यदि गाँव बसाने को कहे तो इसमे कितना समय लगेगा, इसका भी विचार कीजिए। खादी निर्माण का काम है, विध्वस का नही। यह विचार अँग्रेजो के विचार का शत्रु है। तब खादी की प्रगति धीमी है, इसका दुःख नहीं,' यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही; पर उस खादी मे और आज की खादी मे अन्तर है। आज की खादी मे जो विचार है वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते है इसके क्या मानी है, यह हमे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आज की खादी का अर्थ है सारे ससार मे चलते हुए प्रवाह के विरुद्ध जाना। यह पानी के प्रवाह के ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय जीत सकेंगे, तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समय का संहार

करनेवाली मैं हूँ", यह वह कह सकेगी। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः", ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादी की यदि मिल के कपड़े से तुलना की गयी तो समझ लीजिए कि वह मिट गयी—मर गयी। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिल की तुलना में सस्ती नहीं, महँगी हूँ। मै बड़े मोल की हूँ। जो-जो विचारशील मनुष्य है मैं उन्हे अलङ्कृत करती हूँ। मै सिर्फ शरीर ढाँपने-भर को नही आयी; मैं तो आपका मन हरण करने आयी हूँ।" ऐसी खादी यकायक कैसे प्रसूत होगी? वह धीरे-धीरे ही आगे जायगी और जायगी तो पक्के तौर से जायगी। खादी के प्रचलित विचारों की विरोधिनी होने के कारण उसे पहननेवालो की गणना पागलों मे होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बताये हैं—काश्तकार, अन्य धन्धा करनेवाले और जिनके पास धन्धा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्यों को हमें अन्न देना है। इसे करने के लिए तीन शर्तें है। एक तो सर्वप्रथम काश्तकार की व्याख्या बदलिए। (१) खेती, (२) गो-रक्षण और (३) कातने का काम करनेवाले, ये सब काश्तकार हैं—काश्तकार की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, बैल, गाय, दूध इन वस्तुओं के विषय में काश्तकार को स्वावलम्बी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त यह है कि जो वस्तुएँ काश्तकार तैयार करें वे सब दूसरों को महँगी खरीदनी चाहिएँ। तीसरी बात यह कि इनके सिवाय बाकी की चीजें जो काश्तकार को लेनी हो वे उसे सस्ती मिलनी चाहिएँ। अन्न, वस्त्र, दूध ये वस्तुएँ महँगी, पर घड़ी, गिलास-जैसी वस्तुएँ सस्ती होनी चाहिएँ। वास्तव में दूध महँगा होना चाहिए जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिएँ जो हैं महँगे। यह आज की स्थिति है। आपको यह विचार रूढ़ करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महँगा होना चाहिए। इस प्रकार का अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और

अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा ? इने-गिने कुछ ही नौकरो को नियमित रूप से अच्छी तनख्वाह मिलती है, उनकी बात छोडिए। जिस राष्ट्र मे ७५ प्रतिशत काश्तकार हो उसमे यदि ये वस्तुएँ सस्ती हुई तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा ? उसे सुखी बनाने के लिए खादी, दूध, अनाज, ये काश्तकारो की वस्तुएँ महँगी और बाकी की चीजे सस्ती होनी चाहिएँ।

मुझसे लोग कहते है, "तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी है। इस बीसवीं सदी मे तुम गाधीवाले लोग यत्र-विरोध कर रहे हो।" पर मैं कहता हूँ कि क्या आप हमारे मन की बात जानते है ? हम सब यत्र-विरोधी है यह आपने कैसे समझ लिया ? मै कहता हूँ कि हम यत्रवाले ही है। एकदम आप हमें समझ सके यह बात इतनी सरल नही है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मै कहता हूँ कि आपने यंत्रो का आविष्कार किया है न ? हमे भी वे मान्य है। काश्तकारो की वस्तुएँ छोड़कर बाकी की वस्तुएँ आप सस्ती कीजिए। अपनी यन्त्रविद्या काश्तकारो के धन्धो के अलावा दूसरे धन्धो पर चलाइए और वे सारी वस्तुएँ सस्ती होने दीजिए। पर आज होता है उलटा। काश्तकारो की वस्तुएँ सस्ती, पर इतने यन्त्र होते हुए भी यन्त्र की सारी वस्तुएँ महँगी ! मै खादीवाला हूँ, तो भी यह नही कहता कि चकमक से आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारो को एक पैसे मे पॉच डिब्बिया क्यो नहीं देते ? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह गॉवो को चाहिए। तो दीजिए न आध आने मे महीने भर ! आप खुशी से यन्त्र निकालिए, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मै कहता हूँ। केले चार आने दर्जन होने चाहिएँ और आप के यन्त्रो की बनी वस्तुएँ पैसे, दो पैसे मे मिलनी चाहिएँ। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकार से खरीदना चाहिए। यदि आप कहे कि हमे यह जॅचता नहीं,

तो काश्तकार भी कह दे कि हम अपनी चीजें खाते हैं, हमारे खाने के बाद बचेंगी तो आप को देंगे। मुझे बताइए, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा ?

इसलिए यह खादी का विचार समझ लेना चाहिए। बहुतों के सामने यह समस्या है कि खादी महँगी हुई तो क्या होगा ? पर किनका ? किसानों को खादी ख़रीदनी नहीं, बेचनी है। इसलिए उनके लिए खादी महँगी नहीं, वह उन्हें दूसरों को महँगी बेचनी है।

: १४ :

'वृक्षशाखा'-न्याय

कांग्रेस और किसान सभाएँ

मेरा यह बराबर अनुभव रहा कि शहरातियो की अपेक्षा देहाती अधिक बुद्धिमान होते हैं। शहराती जड है। जड़ सम्पत्ति की सोहबत से जड़ बन गये है।

मै आज देहातो की जाग्रति के बारे मे दो शब्द कहूँगा। आजकल किसानो के सगठन के लिए किसान-सभाएँ कायम की जा रही है। लोग मुझसे पूछते है, "किसान-सभाएँ बन रही है, यह देखकर तुम्हे कैसा लगता है?" मै कहता हूँ, "क्या मै इतना जड़ हूँ कि किसान-सभाओ की स्थापना से ख़ुश न होऊँ?" किसान-सभाएँ बननी चाहिएँ और गॉव-गॉव मे बननी चाहिएँ। लेकिन इसके सम्बन्ध मे दो बातो पर ध्यान देना चाहिए। डाली जबतक पेड से जुडी रहेगी तभीतक उसे पोषण मिलेगा। अलग होते ही वह तो सूख ही जायगी, साथही पेड को भी नुकसान पहुँ-चायेगी। पचास साल पहले लगाये हुए जिस वृक्ष की छाया मे यह सभा हो रही है उसे छोडकर किसान-सभाएँ यदि अलग हो जायँ तो इससे उनका नुकसान तो होगा ही, साथ ही पेड की भी हानि होगी। इसलिए किसानो का सारा संगठन कॉग्रेस से अविरुद्ध ही होना चाहिए। 'कॉग्रेस के अनुकूल' से यह मतलब नही है कि वे सिर्फ अपने नाम मे कही 'कॉग्रस' शब्द लगा दे। आज-कल 'स्वराज्य' शब्द का महत्त्व है। इसलिए कई सस्थाएँ उसे अपने नाम के साथ जोडती है—जैसे 'वर्णाश्रम-स्वराज्य-सघ'।

मेरा मतलब इस तरह की अनुकूलता से नहीं हैं। 'कॉंग्रस के अनुकूल' से मतलब यह है कि उनकी वृत्ति और दृष्टि अपने आदोलन से कॉंग्रेस की शक्ति बढाने की होनी चाहिए।

कॉंग्रेस के हाथो मे राजशक्ति आगयी है, इसका क्या अर्थ है ? दही मे से सारा मक्खन निकाल लेने पर सरकार ने मट्ठे का चौथाई हिस्सा हमारे लिए रख दिया है। यही चार आना मट्ठा ग्यारहों प्रान्तो मे बॉट दिया गया है। उनमे से हमारी हुकूमत सात प्रान्तों मे है। याने ढाई आने मट्ठा हमारे पल्ले पड़ा है। आप पूछेंगे कि फिर हमने यह स्थिति क्यों मंजूर की ? मेरा जवाब है, "पच्चर लगाने के लिए।" भारत के बडे-बड़े नेताओं ने निश्चय किया कि ब्रिटिश सत्ता की धरन में यह जो ज़रा-सी दरार पड़ गयी है उसमे पच्चर लगा दी जाये। अगर इस उद्योग में पच्चर के ही टूट जाने का अन्देशा होता तो यह स्थिति कदापि स्वीकार न कीगयी होती। लेकिन उन्हे विश्वास है कि उनकी पच्चर फौलाद की बनी हुई है। पर याद रहे, केवल पच्चर लगा देने से ही काम नहीं चलता। उसपर घन की चोटे भी मारनी पडती हैं। हमारे आंदोलन उस पच्चर पर लगायी जानेवाली चोटें है।

इसलिए हमे आन्दोलन बडी कुशलता से करना चाहिए। जिन्हें हमने अपना मत देकर भेजा है उनके काम मे हमारे आन्दोलन से मदद ही पहुँचे, इसकी सावधानी हमें रखनी चाहिए। हमारी माँगें ऐसी हों और ऐसे ढग से पेश कीजाये कि हमारे प्रतिनिधि सोने तो न पाये, लेकिन उनका बल भी किसी तरह कम न होने पाये।

मै क्रोधी आदमी हूँ। क्रोधी और सच्चे आदमी की जीभ अक्सर खुजलाती रहती है। तुकाराम का यही हाल था। उन्होंने "मेरा तो मुँह खुजलाता है" कहकर भगवान् को खूब खरी-खरी बातें सुनायीं। मैं यह नहीं कहता कि किसानसभावाले कम ज़ोर से बोलें, लेकिन तुकाराम के समान उनका

ज़ोर प्रेम का हो। तब उनका ज़ोर उनके प्रेम का लक्षण माना जायगा। बिना प्रेम का ज़ोर दिखाने का परिणाम यह होगा कि जिनसे हम सब एक होकर लड़ना चाहते हैं वे तो सुरक्षित रहेंगे और जिन्हे हमने चुनकर भेजा है उनसे हम लड़ते रहेंगे।

लगन चाहे कितनी ही हो, लेकिन अगर बुद्धि चली गयी तो सब कुछ चला गया। बोलने मे हमेशा विवेक रहे। हम जो-कुछ कहे उसके सबूत और अक पेश करे। स्वराज्य लड्डू तो है, लेकिन मेथी का लड्डू है। उसमे ज़िम्मेदारी का कडुआपन है। हम स्वराज्य क्यों चाहते है? इसलिए कि अड़चनो को दूर करने मे अपनी बुद्धि लगाने का मौका हमे मिले। आज हमे कुछ भी नही करना पडता, इसलिए हम जड़ हो गये हैं। कल अग्रेज़ यहाँ से अपनी फौज हटाले तो हम मुसीबत मे पड जायेंगे; लेकिन हम यह चाहते हैं, क्योकि उस हालत मे हमे अपनी अक्ल लगाने का मौका मिलेगा। हमे जो 'मॅडगिल' भात दिया जा रहा है वह हम नहीं चाहते। हमे तो ज़रा करारी रोटी चाहिए। बुद्धिमत्ता के जो-जो क्षेत्र आज हमारे लिए बिल्कुल बन्द है वे थोड़े-बहुत खोल दिये गये है। इसलिए स्वराज्य की जिम्मेदारी का खयाल रखकर किसानो को अपने आन्दोलन सोच-विचारकर समझदारी के साथ चलाने चाहिएँ। अपने मुँह से निकलनेवाले शब्दो को उन्हें तौल-तौल-कर कहना चाहिए। "ब्रह्मवाक्य" के समान "किसान-वाक्य" भी भाषा का मुहावरा बन जाना चाहिए। सबका यह विश्वास हो जाना चाहिए कि किसानों का वाक्य कभी असत्य या गैर-ज़िम्मेदार हो ही नहीं सकता। आज भी सरकार का हाथ कम मजबूत नहीं है, वह खासा मज़बूत है। लेकिन उसे पकड़ने की हिम्मत हमने लोगों के बल पर की है। इसलिए लोगों के आन्दोलन जोश से भरे हुए, उत्साहवर्धक, किन्तु प्रेमयुक्त और विवेक तथा सत्य के अनुकूल और अपने प्रतिनिधियो की ताकत बढ़ाने की दृष्टि से होने चाहिएँ।

समर्थ रामदास ने कहा था कि आन्दोलन मे सामर्थ्य है। लेकिन हम समझ बैठे है कि केवल बकवास मे ही बल है। आजकल की हमारी सभाएँ निरी बकवास होती है। एक समय था जब कॉग्रेस सरकार के सामने केवल शिकायते पेश करनेवाली संस्था थी। उस समय वह भी शोभा देता था।

जिमि बालक करि तोतरि बाता।
सुनहि मुदित मन पितु अरु माता॥

लेकिन बड़े होने पर ! चालीस साल के बाद भी अगर हम फिर 'यह दीजिए', 'वह दीजिए', 'यह नहीं हुआ', 'वह नहीं हुआ', आदि शिकायतें सरकार के सामने पेश करते रहें, तो तब और अब की हालत मे अन्तर ही क्या रहा ? 'यह दीजिए', 'वह दीजिए'—लेकिन 'दीजिए' कहाँ से ? असली शक्ति तो ग्राम-संगठन है। जनता की शक्ति बढ़नी चाहिए। रो-धोकर भीख मॉगने से थोड़े ही वह बढ़ेगी ? हिन्दुस्तान की आर्थिक तबाही अग्रेजो के व्यापार के कारण हुई है। जबतक देहात की शक्ति नहीं बढेगी, हिन्दुस्तान सम्पन्न कैसे होगा ? 'लगान माफ करो, लगान माफ करो', कहकर अपने दुखड़े रोने से क्या होगा ? कांग्रेस की बदौलत हमें आन्दोलन करने के लिए आधार, आश्वासन और सुयोग प्राप्त हुआ है। इससे अधिक कुछ नहीं हुआ है। लेकिन हम तो यही समझने लगे हैं कि जैसे हम मंज़िल पर ही पहुँच गये हों ! बनचराई माफ हो गयी, राजाजी को खादी के लिए दो लाख रुपये मिल गये। हमने समझा बस अब तो मंज़िल आ ही गयी। इसीको मैं बकवास कहता हूँ। खादी के लिए दो लाख ! अजी, दो सौ करोड़ भी काफी न होंगे। सारे देश को हमें खादीमय बनाना है। दो लाख से क्या होता है ? लेकिन यह काम कोई भी सरकार नहीं कर सकती। यह तो जनता को ही करना चाहिए।

हमारे देहाती भाई शहरातियो से अच्छी तरह लड़ते भी तो नहीं। देहाती चीजो के भाव बहुत गिर गये है। शहरी चीजे महँगी बिकती हैं। देहातियों को चाहिए कि वे शहराती दूकानदार से कहे, "घड़ी के दाम बीस रुपये बताते हो, दो रुपये मे देदो। मेरा मक्खन छः आने सेर माँगते हो? तीन रुपये सेर दूँगा। इसके लिए मुझे इतनी मेहनत और खर्च जो करना पड़ा है।"

देहातो को सहयोग से पूँजी जुटाकर भाँति भाँति के उद्योग शुरू करने चाहिएँ। इसके लिए कोई रुकावट नही है। सरकार से आपको उचित संरक्षण मिल सकता है। यदि हम ऐसा कुछ करेग तो हमारी हलचलें 'आन्दोलन' के नाम की अधिकारणी होगी। वरना सारी हलचलें निरी बकवास और हड़बडाहट ही सिद्ध होगी। हरएक गाँव को एक छोटा-सा राष्ट्र समझकर वहाँ की सम्पत्ति बढाने का सामुदायिक दृष्टि से विचार होना चाहिए। गाँव के आयात और निर्यात पर गाँव की चुगी होनी चाहिए। जब हम ऐसा करेंगे तभी हम अपनी सरकार को बल-प्रदान कर सकेंगे, वरना हमारे आन्दोलन फ़ुज़ूल है।

: १५ :

राजनीति या स्वराज्यनीति

एक भिखारी का स्वप्न

एक भिखारी सपने मे राजगद्दी पर बैठा। उसे यह कठिनाई हुई कि अब राज कैसे चलाऊँ? बेचारा सोचने लगा, "प्रधानमन्त्री से मै क्या कहूँ? सेनापति मेरी कैसे सुनेगा?" आखिर भिखारी का ही तो दिमाग ठहरा। वह कोई निर्णय न कर सकता था। कुछ देर के बाद उसकी नींद ही खुल गयी और सारे प्रश्न हल हो गये।

हमारे साथ भी ऐसा ही कुछ होने जा रहा है। यह मानकर कि हिन्दुस्तान को स्वराज्य मिल चुका है, लोगो ने विचार करना शुरू कर दिया। उन्हे एकदम विश्वरूप-दर्शन हो गया। "बाह्य आक्रमण का क्या करे, भीतरी बगावत और अराजकता का सामना कैसे करें?" एक ने कहा, "हिंसा किसी काम नहीं आयेगी।" दूसरे ने कहा "अहिंसा के लिए हमारी तैयारी नहीं है।" तीसरा बोल उठा, "कुछ अहिंसा, कुछ हिंसा, जो कुछ बन पडेगा, करेंगे। फिलहाल हम गाधीजी को मुक्त कर देंगे। सरकार के साथ तो हमारा अहिंसात्मक असहयोग है ही, लेकिन देखा जायगा। अगर ईश्वर की कृपा से सरकार के दिल में सुबुद्धि उपजी और उसने स्वराज्य का शब्दोदक (दान का शाब्दिक संकल्प) हमारे हाथ में दे दिया तो हम उसके युद्ध-यत्र की सहायता करेंगे। इग्लैण्ड के पास शस्त्र-सामग्री है और हमारे पास जन-बल है। दोनों को मिलाने से बहुत-सा सवाल हल हो जायेगा।" तात्पर्य यह कि हमने अभी स्वराज्य

हासिल नही किया है, इसलिए विचारो की ये उलझनें पैदा हो रही है। अगर हमने अहिंसा की शक्ति से स्वराज्य प्राप्त कर लिया होता या प्राप्त करनेवाले हो—और कार्य-समिति तो साफ-साफ कह रही है कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए हमारे पास अहिंसा के सिवा दूसरी शक्ति नही है—तो उसी शक्ति द्वारा आगे की सारी समस्याएँ कैसे हल की जा सकती है, यह हमे सूझता या सूझेगा। आज तो श्रद्धा दृढ़ करने का ही सवाल है। यह कदम-ब-कदम अर्थात् क्रमशः ही होता है। यही ज्ञान की महिमा है।

न्यायान्याय का बलाबल

लेकिन आज क्या हो रहा है? हमारे नेता गिड़गिडा कर सरकार से यह विनती करते हुए देख पडते है कि "गाधीजी का त्याग करना हमारे लिए आसान नहीं था। लेकिन इतना कठिन त्याग करके भी हमने सहयोग का हाथ आप की तरफ बढाया है। सरकार हमे स्वराज्य का वचन दे दें और हमारा सहयोग ले ले।"

इस विचित्र घटना पर ज्यों-ज्यो विचार करता हूँ त्यो-त्यो विचार को अधिकाधिक व्यथा होती है। मान लीजिए, सरकार ने यह विनती स्वीकार कर ली और सरकार के युद्ध-यन्त्र मे काग्रेस दाखिल हो गयी। तो जिस क्षण वह स्वराज्य का वचन प्राप्त करती है उसी क्षण स्वराज्य के अर्थ को वह सैकडों वर्ष दूर ढकेल देती है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही है।

जिसने हिंसात्मक युद्ध मे योग देने का निश्चय कर लिया उसने शुरू-शुरू मे न्याय-अन्याय का जो कुछ थोडा-बहुत विचार किया हो सो किया हो, लेकिन एक बार युद्ध-चक्र मे दाखिल हो जाने के बाद फिर तो न्याय-अन्याय की अपेक्षा बलाबल का विचार ही मुख्य हो जाता है।

हिंसा का शस्त्र स्वीकार करने के बाद बलाबल का ही विचार मुख्य है। हमारे पक्ष मे अगर कुछ न्याय हो तो ठीक है, न हो तो न सही। हिन्दुस्तान या दूसरा कोई भी देश अगर आज के यान्त्रिक संसार की

हिंसा मे शामिल होगा तो उसे न्याय और लोकतन्त्र की भाषा तक छोड़ देनी होगी।

हिंसात्मक सहयोग का मतलब

ब्रिटेन से आज हिंसात्मक सहयोग करने के लिए तैयार होने का अर्थ केवल अहिंसा का परित्याग ही नहीं है, बल्कि हिंसा के गहरे पानी मे एकदम उतर जाना है। "हम हिन्दुस्तान के बाहर आदमी नहीं भेजेंगे", यह कहना मुमकिन नहीं; क्योंकि हिन्दुस्तान का बचाव-जैसी कोई अलग चीज़ ही नहीं रह जाती। अफ्रीका का किनारा, भूमध्यसागर आदि सब को हिन्दुस्तान की ही सरहदें मानना पड़ेगा। दूसरा कोई चारा नहीं है।

अर्थात्, कांग्रेस की बीस साल की कमाई और उसकी बदौलत ससार मे पैदा हुई आशा तो हवा हो ही गयी, लेकिन साथ-साथ हिन्दुस्तान की हजारों वर्ष की कमाई भी अकारथ गयी। हिन्दुस्तान का जितना इतिहास ज्ञात है उसमे हिन्दुस्तानी अपने देश के बाहर स्वेच्छापूर्वक सहार के लिए गये हो, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है। यह भी सम्भव नहीं कि हम सिर्फ बचाव के लिए हिंसा करें, हमले के लिए नहीं। कोई भी मर्यादा नहीं रह सकती। 'अमर्यादा-पुरुषोत्तम' ही हमारे इष्टदेव होगे, और हम उनकी पूर्ण उपासना करेंगे तभी सफल होगे।

शत्रु-निर्माण का कार्यक्रम

और फिर ससार भर से दुश्मनी मोल लेने का साहस हम किस बिरते पर कर सकते है? आज जितनी दूर तक दिखाई देता है उतने का विचार किया जाय तो यही कहना होगा कि इग्लैण्ड के बल पर। इस बात पर भी विचार करना ज़रूरी है। जिस राष्ट्र मे ज़मीन का औसत फी आदमी एक एकड़ है उस राष्ट्र के लिए—अगर वह दूसरे राष्ट्रों को लूटने का ख़याल छोड़ दे तो—चाहे वह कितना ही ज़ोर क्यों न मारे, फ़ौज पर ज्यादा खर्च करना नामुमकिन है। और सौभाग्य से हिन्दुस्तान की आर्थिक

परिस्थिति मे कितनी ही उन्नति क्यो न हो, उसके लिए यह बात सम्भव भी नहीं है।

"हिन्दुस्तान के लिए बहुत बडी फौज रखना मुमकिन नहीं, इसलिए उसे बिना फौज का रास्ता ही आसान पड़ेगा"—यह बात जवाहरलालजी भी कभी-कभी कहा करते है। इस तरह का राष्ट्र स्वाश्रयी (अपने भरोसे) रहकर शत्रु-निर्माण-कला का प्रयोग नही कर सकता। फलतः उसे पराश्रित होकर (दूसरो के भरोसे ही) उस कला के प्रयोग करने होगे। इसका अर्थ क्या होगा?—इग्लैण्ड से आज हम निरे स्वराज्य का ही नही बल्कि बिल्कुल पक्के—पूर्ण स्वराज्य का वचन ले लेते है और वह उसे सप्रेम, सधन्यवाद और सब्याज (ब्याज सहित) लौटा देते है। भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश देने के बाद उससे कहा, "तू अपनी इच्छा से जो कुछ करना हो सो कर"। और फिर कहा, "सब कुछ छोड़कर मेरी शरण आ"। दोनो का सम्मिलित अर्थ यह है कि "तू अपनी खुशी से मेरी शरण आ"। ईश्वर के लिए भक्त को यही करना चाहिए। इग्लैण्ड के लिए हमे भी वही करना होगा।

अज्ञ दुर्योधन का अनुकरण

नैष्ठिक अहिंसा को ताक़ पर रखकर सरकार से हिंसात्मक सहयोग—अर्थात् सरकार और दूसरे हिंसानिष्ठ लोगो के हिंसात्मक सहयोग की स्वीकृति—की नीति की यह सारी निष्पत्ति ध्यान मे लाने पर यही कहना पड़ता है कि शस्त्रास्त्र और यादवो की सेना लेकर कृष्ण को छोड़नेवाले अज्ञ दुर्योधन का ही अनुकरण हम कर रहे है। इसके बदले अगर काग्रेस अपनी अहिंसा मजबूत करे, अनायास मिलनेवाले स्वराज्य की आशा का ही नहीं बल्कि कल्पना का भी त्याग कर दे, अपने सहयोग का अर्थ नैतिक सहयोग घोषित कर दे, और स्वराज्य का सम्बन्ध वर्तमान युद्ध से न जोडकर जिस प्रकार मिट्टी से श्रीगणेशजी की मूर्ति का निर्माण किया जाता

है उसी प्रकार अपनी शक्ति से यथासमय अपने अभ्यन्तर से स्वराज्य का निर्माण करने की कारीगरी अख्तियार करले, तो क्या यह सब प्रकार से उत्तम नहीं है ?

चिरजीवी स्वराज्य का मंगलमय युद्ध

ऐसा स्वराज्य किसी के टालने से टल नहीं सकता। सूर्य भगवान् के समान वह सहज ही उदित होगा। सूर्य तो पूर्व दिशा में उदय होता है, लेकिन उसका प्रकाश और गरमी ठेठ पश्चिम तक सभी दिशाओं में फैलती है। स्वराज्य के विषय मे भी यही होगा। उसका जन्म तो हिन्दुस्तान में होगा, लेकिन उसकी बदौलत सारी दुनिया के लिए मुक्ति का रास्ता खुल जायगा। उसका शत्रु पैदा होने से पहले ही मर जायगा। भीतरी-दंगे-फसाद की सभावना मिटाकर ही उस स्वराज्य का आविर्भाव हुआ होगा; इसलिए भीतरी कलह के निवारण का सवाल सामने आयेगा ही नहीं। यही हाल बाह्य आक्रमण का भी होगा। या अगर यह मान भी लिया जाय कि इन दो समस्याओ के अवशेष कायम रहेगे तो भी उनको हल करना आज जितना कठिन मालूम होता है उतना नहीं मालूम होगा। यह स्वराज्य कितनी ही देर मे क्यों न मिले तो भी वही जल्दी-से-जल्दी मिलेगा। क्योंकि वही 'स्वराज्य' होगा और वही चिरजीवी होगा।

निष्क्रियता का कार्यक्रम

लेकिन कुछ लोग यह शका करेंगे कि हिन्दुस्तान को क्या सचमुच अहिंसा से स्वराज्य मिलेगा ? यहाँ इस शंका का विचार करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि यह शका ही नहीं है, यह तो निष्क्रिय लोगों का निश्चय है। वे यह जानते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए हिंसा से स्वराज्य प्राप्त करना सम्भव नही और उनका यह विश्वास है कि अहिंसा से कभी किसीको स्वराज्य मिल ही नहीं सकता। इसलिए निष्क्रिय रहकर आलोचनात्मक साहित्य की वृद्धि करना उनका निश्चित कार्यक्रम है। तब उनके पीछे

पडने से क्या फ़ायदा ? इसके अलावा, काग्रेस आजतक यह मानती है कि संगठित अहिंसा ही स्वराज्य का एकमात्र व्यवहार्य साधन है, और ऐसे विचारवाले लोगो के ही लिए यह लेख है।

स्वराज्य-सम्पादन और स्वराज्य-रक्षण

लेकिन काग्रेसवालो के दिमाग मे कुछ दूसरी ही तरह की गड़बडी पैदा हो रही है। एक व्यवस्थित सरकार का सामना करके स्वराज्य प्राप्त करना और एकाएक होनेवाले बाहरी हमले या अन्दरूनी लड़ाई-झगड़ो का निवारण करना, दोनो उन्हे बिल्कुल भिन्न कोटि की समस्याएँ प्रतीत होती हैं। उनके सामने यह जटिल समस्या है कि पहली बात तो हम अपनी टूटी-फूटी अहिसा से साध सकते है, लेकिन दूसरी बात बलवानो की नैष्ठिक अहिंसा के बिना सध ही नही सकती। वह नैष्ठिक अहिसा हम कहाँ से लाये ?

मेरे नम्र विचार मे यह एक भ्रम है और इसका निवारण होना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार स्वराज्य-प्राप्ति नैष्ठिक अहिंसा के बिना असम्भव है उसी प्रकार स्वराज्य-रक्षण भी नैष्ठिक अहिंसा के बिना असभव है। अबतक दुर्बलो की अहिंसा का एक प्रयोग हमने किया। उसकी बदौलत थोड़ी-बहुत सत्ता मिली या मिलने का आभास हुआ। मै 'आभास' कहता हूँ, कारण, काग्रेस के शासन-काल मे जो-जो विचित्र घटनाएँ घटीं उन्हे हम जानते ही है। फिर भी, उसे आभास कहने के बदले यही मान लिया जाय कि हमने थोडी-बहुत सत्ता प्राप्त कर ली। परन्तु इस सत्ताभास अथवा इस अल्पसत्ता मे और जिसे हम स्वराज्य कहते है और जिसके पीछे 'पूर्ण' विशेषण लगाये बिना हमारी आत्मा को कल नहीं पडती उस हमारे उद्घोषित ध्येय मे जमीन-आसमान का अन्तर है। यह अन्तर चाहे जैसी मिलावटी और अव्यवस्थित अहिंसा से नही काटा जा सकता। उसके लिए बलवानो की पराक्रमी अहिंसा की ही ज़रूरत होगी, यह समझ लेने का समय अब आ गया है। जितनी जल्दी हमारी

समझ मे यह बात आजायगी उतनी ही जल्दी हमारे विचारों की ये गुत्थियाँ सुलझ जायँगी।

प्रयत्नसिद्ध बनाम प्रवाहपतित स्वराज्य

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वराज्य गणेशजी की वह मूर्ति है जिसका निर्माण हमे मिट्टी मेसे करना है। नदी के प्रवाह के साथ बहकर आनेवाला वह नर्मदा-गणेश नहीं है। हमारे कुछ बुजुर्गों और बड़े-बूढो की यह समझ हो गयी है कि हमने जो कुछ थोडी-बहुत अहिंसा का प्रदर्शन किया है उससे मानो भगवान् प्रसन्न हो गये हैं, और उन प्रसन्न भगवान् ने हमारे संकट-मोचन के लिए यह युद्ध भेज दिया है। शुद्ध भाव से किये हुए हमारे उस अल्पतम प्रयत्न और भगवान् की इस अपरम्पार कृपा के संयोग से अब हमारा कार्य जल्दी ही सिद्ध होनेवाला है। इस कल्पना के भँवरजाल में पडने के कारण हम इस ग़फ़लत में हैं कि हमारी कमज़ोर अहिंसा भी हमे स्वराज्य मे बरबस ढकेलकर ही रहेगी। लेकिन इसके विपरीत अनुभव हुआ और इंग्लेण्ड ने सचमुच हमें स्वराज्य दे भी दिया तो भी वास्तव मे स्वराज्य नही मिलता, अपनी यह राय मैं ऊपर पेश कर चुका हूँ।

दो समस्याओं का विश्लेषण

तब सवाल यह उठता है कि "क्या आप व्यवस्थित सरकार से लोहा लेना और बाह्य आक्रमण तथा भीतरी अराजकता का प्रतीकार करना, इन दो बातों मे कोई फर्क ही नही करते?" उत्तर यह है कि "करते हैं और नहीं भी करते।" एक क्षेत्र मे दुर्बल अहिंसा से काम चल जायगा और दूसरे क्षेत्र में बलवती अहिंसा की आवश्यकता होगी, इस तरह का कोई फ़र्क हम नहीं करते। यदि स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वराज्य हो तो दोनों क्षेत्रों मे बलवती अहिंसा की ही आवश्यकता होगी। लेकिन व्यवस्थित सरकार से टक्कर लेने मे उसकी जो कसौटी होगी उससे भिन्न प्रकार की

कसौटी दूसरे क्षेत्रो के लिए होगी, यह फ़र्क हम करते है। उसमे भी मैं भिन्न प्रकार की कसौटी कहता हूँ। अधिक कडी कसौटी भी निश्चित रूप से नहीं कहता और न 'कम कड़ी' ही कहता हूँ।

मत-परिज्ञान नहीं, स्वभाव-परिज्ञान

इसपर कुछ लोग कहते है, "तुम्हारी सारी बाते मजूर है, लेकिन व्यक्ति की हैसियत से। नैष्ठिक अहिसा मे हमारी श्रद्धा है। हम उसकी तैयारी भी करेंगे। लेकिन हम जनता के प्रतिनिधि है। इसलिए हमारे सिर्फ पैर ही नहीं लड़खड़ाते; दिमाग भी डगमगाने लगता है। क्या आज की स्थिति मे जनता के लिए अहिंसा हितकर होगी? हमारी राय मे न होगी।"

इसके जवाब मे दूसरे कहते है, "अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी से फैसला करा ले।"

मै कहता हूँ, "यह सारी विचार-धारा ही अनुपयुक्त है। आम-जनता—जिसकी गिनती चालीस करोड़ से की जाती है वह जनता—हिन्दुस्तान की जनता-जैसी प्राचीन और अनुभवी जनता—अनेक मानव-समूह से बनी हुई जनता—बिना किसी से पूछे-पाछे अहिंसक मान ली जानी चाहिए। उसे बरबस हिंसा के दल मे ढकेलना या उसकी अहिंसकता का सबूत 'अखिल भारतीय' नाम धारण करनेवाली काग्रेस कमेटी से मॉगना नाहक समय नष्ट करना है। हिन्दुस्तान की जनता अहिसक, अहिंसक और अहिंसक ही है। वह 'अहिंसावादी' नही है। यह 'वाद' तो उसके नाम पर विद्वान् सेवको को खड़ा करना है। वह 'अहिंसाकारी' भी नही है। यह कार्य उसकी तरफ से उसके सत्याग्रही सेवको को करना है। उन दोनो को मिलकर उससे 'क्या तू अहिसावादी है'? और 'क्या तू अहिंसाकारी है?' ऐसा ऊटपटंगा प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। अगर व्यक्तिगत रूप से अहिंसा मे हमारी श्रद्धा हो तो अहिंसा से शक्ति का निर्माण करना हमारा कर्त्तव्य है। इस कार्य मे जनता का उत्तम आशीर्वाद सदा हमारे साथ है।

अहिंसा-जैसे प्रश्न के विषय में जनता के मत-परिज्ञान की जरूरत नहीं, उसका स्वभाव-परिज्ञान काफी है।"

'तुरत क्या करें ?'

इसपर फिर कुछ लोग कहते हैं "यह भी माना लेकिन हमारा प्रश्न तो तुरत का है। अगर अहिंसा का आग्रह लेकर बैठ जायेंगे तो हम तैयारी तो करेंगे, शक्ति भी प्राप्त करेंगे और यथासंभव सिद्धि भी प्राप्त कर लेंगे, लेकिन वर्तमान काल में तो हम बिल्कुल ही एक कोने में पड़े रहेंगे। दूसरे पक्ष आगे आयेंगे। सरकार उनकी सहायता ले लेगी और राजनीति में हम पीछे छूट जायेंगे।"

स्वराज्य-साधना और राज्य-कामना

कोई हर्ज नहीं। हमें राजकारण (राजनीति) से सरोकार ही नहीं। हमें तो स्वराज्यकारण (स्वराज्य-नीति) से मतलब है। जैसा कि गांधीजी ने लिखा है, "जो आगे बढ़ेंगे वे भी तो हमारे भाई-बन्द ही होंगे।" मैं तो कहता हूँ कि अपनी इस पवित्र स्वराज्य-साधना में ईश्वर से हम यही प्रार्थना करें कि वह हमें चाहे जिस कोने में फेंक दे, लेकिन भ्रम या मोह में न डाले। हम स्वराज्य-साधक हैं, हमें राज्य-कामना का स्पर्श न हो। —'नत्वहं कामये राज्यम्।' [२२–७–४०

: १६ :

सेवा व्यक्ति की ; भक्ति समाज की

बीस बरस से मैने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी अवस्था मे था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवा की ही थी। यो कह सकते है कि जीवन मे मैने सिवा सार्वजनिक सेवा के न कुछ किया है, न करने की इच्छा ही है। पर मेरा आशय यह है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगो ने की है वैसी मैने नही की। सवेरे एक भाई ने मुझसे पूछा कि "आप काग्रेस मे नही जायगे क्या?" मैने कहा कि, "मै तो कॉग्रेस मे कभी नही गया।" सेवा की मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कॉग्रेस मे जाना और वहॉ बहस करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हूॅ सही, पर यह मेरे लिए नही है। मै कॉग्रेस की प्रवृत्तियो से अनभिज्ञ नही हूॅ। विचार करनेवाले भाई तो बहुत है। मैं तो उन लोगों मे हूँ जो मूकसेवा करना चाहते है। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नहीं होसकी जितनी कि मै चाहता हूॅ। मेरा सेवा का उद्देश्य भक्ति-भाव है। भक्ति-भाव से ही मै सेवा करता हूॅ, और २० साल से प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूॅ। प्रचार अभीतक न किया है और न आगे करने की सभावना ही है।

मैने एक सूत्र-सा बना लिया है, "सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की।" व्यक्ति की भक्ति मे आसक्ति बढ़ती है, इसलिए भक्ति समाज की करनी चाहिए। सेवा समाज की करना चाहे तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज

तो एक कल्पनामात्र है। कल्पना की हम सेवा नहीं कर सकते। माता की सेवा करनेवाला लड़का दुनियाभर की सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तु की ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तु की नहीं। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो परमात्मा तक पहुँचे। आजकल सेवा की कुछ अनोखी-सी पद्धति देखने में आती है। सेवा के लिए हम विशाल क्षेत्र चाहते है। पर अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना है, अपने को सेवा मे खपा देना है, तो किसी देहात में चले जाइए। मुझसे एक भाई ने कहा कि "बुद्धिशाली लोगों से आप कहते है कि देहात मे चले जाइए। विशाल बुद्धि के विस्तार के लिए उतना लम्बा-चौड़ा क्षेत्र वहाँ कहाँ है?" मैंने कहा कि, "ऊँचाई तो है, अनन्त आकाश तो है? वह लम्बा सफ़र नहीं कर सकता। पर ऊँचा सफर तो कर सकता है, गहरा तो जा सकता है?" सन्त इतने ऊँचे चढ़ते थे कि उसका कोई हिसाब नही मिलता। कोई बडे-से-बडा विज्ञानवेत्ता भी आकाश की ऊँचाई मालूम नहीं कर सकता। देहात में हम लम्बा-चौड़ा नहीं, पर ऊँचा सफर कर सकते हैं। वहाँ ऊँचे-से-ऊँचे चढ़ने का अवसर है। ऊँची या गहरी सेवा वहाँ खूब हो सकती है। हमारी वह एकाग्र सेवा प्रथम श्रेणी की सेवा हो जायगी, और फलदायक भी होगी।

राष्ट्र के सारे प्रश्न देहात के व्यवहार मे आ जाते है। जितना समाज-शास्त्र राष्ट्र मे है उतना एक कुटुम्ब मे भी आ जाता है, देहात मे तो है ही। समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए गाँव मे काफ़ी गुंजाइश है। मैं तो इस विश्वास को बुद्धि का अभाव ही मानूँगा कि प्रौढ़-विवाह प्रचलित होने से भारतवर्ष सुधर गया, और बाल-विवाह से बिगड़ गया था। प्रौढ़-विवाह में भी अक्सर वैवाहिक आनन्द देखने मे नहीं आता, और बाल-विवाह के भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं जिनमें पति-पत्नी सुख-

शान्ति से रहते है। विवाह-सस्था मे सयम की पवित्र भावना कैसे आये, यह मसला हमने हल कर लिया तो सब कुछ कर लिया। विवाह का उद्देश्य ही यह है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान की राजनीति का नमूना भी देहात मे पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहात की भी जनता को हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बडा काम कर दिया। वहॉ के अर्थशास्त्र को कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत कुछ होगया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनो के बीच मे रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायँगे। हॉ, वहॉ जाकर हमे उनके साथ दरिद्र-नारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नही। अपनी बुद्धि का उनके लिए उपयोग करना है, निरहकार बनना है। हम यह न समझे कि वे सब निरे बेवकूफ-ही होते हैं। भारत के देहातो का अनुभव और देशों की तरह चन्द सदियो का नहीं, कम-से-कम २० हजार वर्ष का है। वहॉ जो अनुभव है उससे हमे लाभ उठाना है। ज्ञान-भडार की तरह द्रव्य-भडार भी वहींसे पैदा करना है और पूरी तरह से निरहकार बनकर उसमे प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिन्दू समझते हैं कि ये सुधारक तो गॉव को बिगाड रहे है; सवर्णों के साथ हमारा उतना सम्बन्ध नहीं जितना कि हरिजनो के साथ है। सवर्णों को अपनी प्रवृत्ति की ओर खींचने और उनकी शका दूर करने के विषय मे सोचा क्या गया है?

अस्पृश्यता-निवारण का काम हमे दो प्रकार से करना है। एक तो हरिजनों की आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्ति मे सुधार करके और दूसरे हिन्दूधर्म की शुद्धि करके, अर्थात् उसको उसके असली रूप मे लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन है, यह हम न माने। वे अज्ञान मे हैं, ऐसा मान सकते हैं। वे दुर्जन या दुष्टबुद्धि नही हैं, यह तो उनके विचारो की सकीर्णता है। प्लेटो ने कहा था कि "सिवा ग्रीक लोगो के मेरे ग्रन्थो का अध्ययन और कोई न करे।" इसका यह अर्थ हुआ कि

ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्य की आत्मा व्यापक है, पर अव्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्य की आत्मा एक देह के अंदर बसी हुई है। इसलिए सनातनियो के प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमें उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहाँ बैठकर चुपचाप सेवा करे। हरिजनों के साथ-साथ जहाँ जब अवसर मिले सवर्णों की भी सेवा करें। एक भाई हरिजनो का स्पर्श नहीं करता, पर वह दयालु है। हम उसके पास जायें, उसकी दयालुता का लाभ उठायें। उसकी मर्यादा को समझकर उससे बात करे। थोड़े दिन में उसका हृदय शुद्ध हो जायेगा, उसके अन्तर का अन्धकार दूर हो जायेगा। सूर्य की तरह हमारी सेवा का प्रकाश स्वतः पहुँच जायेगा। हमारे प्रकाश मे हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अन्धकार की लड़ाई तो एक क्षण मे ही खतम हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसा का हो, प्रेम का हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाज़ा ढकेलकर अन्दर नहीं चला जाऊँगा। मैं तो सूर्य की किरणो का अनुकरण करूँगा। दीवार मे, छप्पर मे या किवाड़ में कहीं ज़रा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुप-चाप अन्दर चली जाती है। यही दृष्टि हमे रखनी चाहिए। हममे जो विचार है वह प्रकाश है, यह मानना चाहिए। किसी गुफा का एक लाख वर्ष का भी अन्धकार एक क्षण मे ही प्रकाश से दूर हो जायेगा। लेकिन यह होगा अहिंसा के ही तरीके से। सनातनियो को गालियाँ देना तो अहिंसा का तरीक़ा नहीं है। हमे मुँह से खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिएँ। हमारी वाणी की कटुता यदि चली गयी तो उनका हृदय पलट जायेगा। ऐसी लड़ाई आज की नहीं, बहुत पुरानी है। सन्तों का जीवन अपने विरोधियों के साथ झगडने मे ही बीता। पर उनके झगड़ने का तरीक़ा प्रेम का था। जिस भगवान् ने हमें बुद्धि दी है उसीने हमारे प्रतिपक्षियोंको भी दी है। आज से १५–२० वर्ष पहले हम भी तो उन्हींकी तरह अस्पृश्यता मानते थे।

हमारे सन्तो ने तो आत्मविश्वास के साथ काम किया है। वाद-विवाद मे पडना हमारा काम नही। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायें। हमारे प्रचार-कार्य का सेवा ही विशेष साधन है। दूसरो के दोष बताने और अपने विचार सामने रखने का मोह हमे छोड़ देना चाहिए। माँ अपने बच्चे के दोष थोडे ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेम की वर्षा करती है, उसके बाद फिर कही दोष बतलाती है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवा का होता है।

: १७ :

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

जब हम सेवा करने का उद्देश्य लेकर देहात में जाते हैं तब हमे यह नहीं सूझता कि कार्य का आरम्भ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरों मे रहने के आदी हो गये है। देहात की सेवा करने की इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूँजी होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूँजी से व्यापार किस तरह शुरू करें। मेरी सलाह तो यह है कि हमे देहात मे जाकर व्यक्तियों की सेवा करने की तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे समाज की तरफ़। सारे समाज के समीप पहुँचना सम्भव भी नही है। रणभूमि मे लड़नेवाले सिपाही से अगर हम पूछे कि वह किसके साथ लडता है तो वह कहेगा "शत्रु के साथ।" लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्ति पर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमे भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है, परन्तु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर सकते हैं। डाक्टर के पास जितने रोगी जाते हैं उन सबको वह दवा देता है, मगर हरएक रोगी का वह ख़याल नही रखता। प्रोफेसर सारे क्लास को पढाता है, पर हरएक विद्यार्थी का वह ध्यान नहीं रखता। ऐसी सेवा से बहुत लाभ नहीं हो सकता। वह डाक्टर जब कुछ रोगियों के व्यक्तिगत सम्पर्क मे आयेगा, या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियों पर ही विशेष ध्यान देगा, तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा। हाँ, इतना ख़याल हमें ज़रूर रखना होगा कि व्यक्तियों की सेवा करने मे अन्य व्यक्तियों को

हिंसा, नाश या हानि न हो। देहात मे जाकर इस तरह अगर कोई कार्य-कर्त्ता सिर्फ २५ व्यक्तियो की ही सेवा कर सका, तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया। ग्राम-जीवन मे प्रवेश करने का यही सुलभ तथा सफल मार्ग है। मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि जिन्होने मेरी व्यक्तिगत सेवा की है उन्हीने मेरे जीवन पर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजी के लेख मुझे कम ही याद आते है। लेकिन उनके हाथ का परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है, और मै मानता हूँ कि उससे मेरे जीवन मे बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवा का प्रभाव। व्यक्तियो की सेवा मे समाज-सेवा का निषेध नही है। समाज गीता की भाषा मे अनिर्देश्य है, निर्गुण है, और व्यक्ति सगुण और साकार, अतः व्यक्ति की सेवा करना आसान है।

दूसरी और सूचना मै रखना चाहता हूँ। हमे देहातियो के सामने ग्राम-सेवा की कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र-धर्म की। उनके सामने राष्ट्र-धर्म की बातें करने से लाभ न होगा। ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है उतना राष्ट्र-धर्म नही। इसलिए हमे उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नही। इसमे भी वही बात है जो व्यक्तिसेवा के विषय मे मैने ऊपर कही है। ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है; राष्ट्र धर्म निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है। बच्चे के लिए त्याग करना माँ को सिखाना नही पडता। आपस के झगड़े मिटाना, गाँव की सफाई तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखना, आयात निर्यात की वस्तुओ और ग्राम के पुराने उद्योगो की जाँच करना, नये उद्योग खोज निकालना, इत्यादि गाँव के जीवन-व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली हरएक बात ग्राम-धर्म मे आ जाती है। पुरानी पञ्चायत-पद्धति नष्ट हो जाने से देहात की बड़ी हानि हुई है। झगडे निबटाने मे पञ्चायत का बहुत उपयोग होता था। अभी इस असेम्बली के चुनाव से हमे यह अनुभव हुआ है कि देहा-

तियो को राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है। सरदार वल्लभभाई और पंडित मालवीयजी के बीच मतभेद हो गया, अब इसमे बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे ? उसके मन मे दोनो ही नेता समानरूप से पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोडे ? इसलिए ग्राम-सेवा मे हमें ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए। वैदिक ऋषियो की भाँति हमारी भी प्रार्थना यही होनी चाहिए कि "ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्"—हमारे ग्राम मे बीमारी न हो।

तीसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ वह है सेवक के रहन-सहन के सम्बन्ध की। सेवक की आवश्यकताएँ देहातियों से कुछ अधिक होने पर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताएँ विजातीय नहीं, सजातीय होनी चाहिएँ। किसी सेवक को दूध की आवश्यकता है, दूध के बिना उसका काम नही चल सकता, और देहातियों को तो घी-दूध आजकल नसीब नहीं होता; तो भी देहात में रहकर वह दूध ले सकता है, क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहात मे पैदा होनेवाली चीज है। किन्तु सुगन्धित साबुन देहात मे पैदा होनेवाली चीज़ नहीं है, इसलिए साबुन को विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवक को उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। कपड़े साफ़ रखने की बात लीजिए। देहाती लोग अपने कपड़े मैले रखते हैं, लेकिन सेवक को तो उन्हें कपड़े साफ़ रखने के लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहर से साबुन मँगाना और उसका प्रचार करना मै ठीक नहीं समझता। देहात में कपड़े साफ रखने के लिए जो साधन उपलब्ध हैं या हो सकते हैं उन्हींका उपयोग करके कपड़े साफ रखना और लोगो को उसके विषय में समझाना सेवक का धर्म हो जाता है। देहात में उपलब्ध होनेवाले साधनों से ही जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तु का उपयोग करने में भी सेवक को विवेक और संयम की

आवश्यकता तो रहती ही है। अखबार का शौक़ देहात मे पूरा न हो सकेगा।

मै जो खास बाते यहाँ कहना चाहता था वे तो मैने कह दी। अब दो-तीन और बाते कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा। खादी प्रचार के कार्य मे अभीतक चरखे का ही उपयोग हुआ है। एक लाख के इनाम वाले चरखे की अभी खोज हो रही है। मै उसे एक लाख का चरखा कहता हूँ। लेकिन मेरे पास तो एक सवालाख का चरखा है, और वह है तकली। मै सचमुच ही उसे सवालाख का चरखा मानता हूँ। खादी-उत्पत्ति के लिए चरखा उत्तम है। लेकिन सार्वजनिक वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए तकली ही उपयुक्त है। नदी का पाट चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह वर्षा का काम नही दे सकता। नदी का उपयोग तो नदी के तट पर रहनेवाले ही कर सकते हैं। पर वर्षा सबके लिए है। तकली वर्षा के समान है। जहाँ कहीं वह चलेगी वहाँ वस्त्र स्वावलम्बन का कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहार के एक भाई कहते थे कि वहाँ मजदूरी के लिए भी तकली का उपयोग हो रहा है। तकली पर कातनेवालो को वहाँ हफ्ते मे तीन-चार पैसे मिल जाते है। लेकिन उनके कातने की जो गति है वह तीन या चार गुनी तक बढ़ सकती है। गति बढ़ाने से मजदूरी भी तीन या चार या पाँच गुनी तक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नही है। हमारे देश मे एक व्यक्ति को १४–१५ गज कपड़ा चाहिए, इसके लिए प्रतिदिन सिर्फ एक सौ तार कातने की जरूरत है। यह काम तकली पर आध घण्टे मे हो सकता है। चरखा बिगड़ता भी रहता है, पर तकली तो हमेशा ही आप की सेवा मे हाजिर रहती है। इसीलिए मै उसे सवालाख का चरखा मानता हूँ।

देहात मे सफाई का काम करनेवाले सेवक कहते है कि कई दिनतक यह काम करते रहने पर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह

शिकायत ठीक नहीं। स्व-धर्म समझ कर ही अगर हम यह काम करेंगे तो अकेले रह जाने पर उसका दुःख हमे न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न! यह मेरा काम है, दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारम्भ करेगा उसको सिंहावलोकन करने की, यानी यह देखने की कि मेरे पीछे मदद के लिए कोई और है या नहीं, आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई सम्बन्धी सेवा है ही ऐसी चीज़ कि वह व्यक्तियो की अपेक्षा समाज की ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परन्तु सेवक की दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी ज़िम्मेदारी नहीं समझते, इसीलिए उसे पूरा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। इसमे सेवक का स्वार्थ भी है, क्योंकि मार्ग की गन्दगी का असर उसके स्वास्थ्य पर भी अवश्य पड़ता है।

औषधि-वितरण में एक बात का हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्य से देहातियो को पशु तो नहीं बना रहे हैं। उनको तो स्वावलम्बी बनाना है। उनको स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोग की दवाइयाँ देने की अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पाये। यह काम देहातियों को अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखाने से ही हो सकता है।

: १८ :

साहित्य उलटी दिशा में

पिछले दिनो एक बार हमने इस बात की खोज की थी कि देहात के साधारण पढ़े-लिखे लोगो के घर मे कौन-सा मुद्रित वाङ्मय (छपा हुआ साहित्य) पाया जाता है। खोज के फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पॉच प्रकार का वाङ्मय पढा जाता है—

(१) समाचारपत्र, (२) स्कूली किताबे, (३) उपन्यास, नाटक, गल्प, कहानियॉ आदि, (४) भाषा मे लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रन्थ, और (५) वैद्यक सम्बन्धी पुस्तके ।

इससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगों के हृदय उन्नत करना चाहते है तो उक्त पॉच प्रकार के वाङ्मय की उन्नति करनी चाहिए ।

पारसाल का जिक्र है। एक मित्र ने मुझसे कहा, "मराठी भाषा कितनी ऊँची उठ सकती है, यह ज्ञानदेव ने दिखाया; और वह कितना नीचे गिर सकती है, यह हमारे आज के समाचारपत्र बता रहे हैं !" (साहित्य-सम्मेलन के) अध्यक्ष की आलोचना और हमारे मित्र के उद्‌गार का अर्थ "प्राधान्येन व्यपदेशः" सूत्र के अनुसार निकालना चाहिए। अर्थात् उनके कथन का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरशः प्रशात महासागर की तहतक जा पहुँचे हैं। मोटे हिसाब से परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनो से लेना चाहिए। इस दृष्टि से दुःखपूर्वक स्वीकार करना पडता है कि यह आलोचना यथार्थ है ।

लेकिन इसमें दोष किसका है ? कोई कहता है सम्पादकों का; कोई कहता है पाठकों का; कोई कहता है पूंजीपतियों का । गुनाह में तीनों ही शरीक है, और "कमाई का हिस्सा" तीनों को बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमे किसीको कोई शक नहीं । परन्तु मेरे मत से—अपराधी ये तीनो भले ही हो—अपराध करनेवाला दूसरा ही है, और वही इस पाप का वास्तविक 'धनी' है । वह कौन है ?—साहित्य की व्याख्या करनेवाला चटोरा अथवा रुचिभ्रष्ट साहित्यकार ।

"विरोधी विवाद का बल, दूसरो का जी जलाना, जली-कटी या तीखी बाते कहना, मखौल (उपहास), छल (व्यंग्य), मर्मभेद (मर्मस्पर्श), आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति), कठोरता, पेचीदगी, संदिग्धता, प्रतारणा (कपट)"—ज्ञानदेव ने ये वाणी के दोष बतलाये हैं । परन्तु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अवगुणो को 'वाग्भूषा' या साहित्य की सजावट मानते है । पिछले दिनो एक बार रामदास की, 'ओछी तबीयतवालो को विनोद भाता है', इस उक्ति पर कई साहित्यिक बडे गरम होगये थे । रामदास के आशय पर ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेने के बदले इन लोगो ने यह आविष्कार किया कि विनोद का जीवन और साहित्य मे जो स्थान है रामदास वही नही समझ पाये थे । उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि ज्ञानदेव ने अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्य की परिभाषा के अनुसार—ज्ञानदेव के अज्ञान का ही फल समझेंगे ।

ज्ञानदेव या रामदास को राष्ट्र-कल्याण की लगन थी और हमारे विद्वानों को चटपटी भाषा की चिंता रहती है, चाहे उससे राष्ट्रघात ही क्यों न होता हो—यह इन दोनों मे मुख्य भेद है । हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय, साहित्य जीता रहे ।

"हे प्रभो, अभीतक मुझे पूर्ण अनुभव नहीं होता है, तो क्या, मेरे

देव, मै केवल कवि ही बनकर रहूँ ?''—इन शब्दों मे तुकाराम ईश्वर से अपना दुखड़ा रोते है और ये (साहित्यकार) खोज रहे हैं कि तुकाराम के इस वचन मे काव्य कहॉतक सधा है ! हमारी पाठशालाओं की शिक्षा का सारा तरीका ही ऐसा है। मैने एक निबन्ध पढा था। उसमे लेखक ने तुलसीदास की शेक्सपियर से तुलना की थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जे का है इसकी चर्चा की थी। मतलब यह कि जो तुलसीदास की रामायण हिन्दुस्तान के करोडो लोगो के लिए—देहातियो के लिए भी—जीवन की मार्ग-प्रदर्शक पुस्तक है उसका अध्ययन भी यह भला आदमी स्वभाव-चित्रण की शैली की दृष्टि से करेगा। शायद कुछ लोगो को मेरे कथन मे कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही जान पडता है कि इन शैली भक्तो ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग शुरू किया है।

शुकदेव का एक श्लोक है जिसका भावार्थ यह है कि ''जिससे जनता का चित्त शुद्ध होता है वही उत्तम साहित्य है।'' जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते है, और जिनसे आज हम प्रभावित है, वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होने तो शृंगार से लेकर वीभत्स तक विभिन्न रस माने है, और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमे ये रस हो। साहित्य की यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिए, उसमे कर्त्तव्य-शून्यता मिला दीजिए, फिर कोई भी बतला दे कि आज के मराठी समाचारपत्रो मे जो पाया जाता है उसके सिवा और किस साहित्य का निर्माण हो सकता है ?

: १९ :

लोकमान्य के चरणों में

आज का नैमित्तिक धर्म

आज का नैमित्तिक धर्म लोकमान्य का पुण्यस्मरण है। आज तिलक की पुण्यतिथि है।

१९२० में तिलक शरीर-रूप से हमारे अन्दर नहीं रहे। उस समय मैं बम्बई गया था। चार-पॉच दिन पहले ही पहुँचा था। परन्तु डॉक्टर ने कहा 'अभी कोई डर नहीं है।' इसलिए मैं एक काम से साबरमती जाने को रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊँगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यन्त निकट के आत्मीय, सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिन से जीवन मे कुछ नयापन सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानों कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुम्बी चल बसा हो। इसमें ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है। आज इतने बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्य के चरणो में अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि अपनी गहरी श्रद्धा के कारण मैं चढ़ा रहा हूँ।

नाम-महिमा

तिलक के विषय मे जब मैं कुछ कहने लगता हूँ तो मुँह से शब्द निकालना कठिन हो जाता है, गद्‌गद हो उठता हूँ। साधु सन्तों का नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है वही इस नाम से भी होती है। मैं अपने

चित्त का भाव प्रकट ही नही कर सकता। उत्कट भावना को शब्दो मे व्यक्त करना कठिन होता है। गीता का भी नाम लेते ही मेरी यही स्थिति हो जाती है। मानो स्फूर्ति का सचार हो जाता है। भावनाओ की प्रचण्ड बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है। परन्तु यह बड़प्पन मेरा नही है। बड़प्पन गीता का है। यही हाल तिलक के नाम का है। मैं तुलना नही करता। क्योकि तुलना मे सदा दोष आ जाते हैं। परन्तु जिनके नाम-स्मरण मे ऐसी स्फूर्ति देने की शक्ति है उन्हीमे से तिलक भी है। मानो उनके स्मरण मे ही शक्ति सचित है। रामनाम को ही देखिए। कितने जड जीवों का इस नाम के स्मरण से उद्धार हो गया, इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक आन्दोलन, अनेक ग्रन्थ, इतिहास, पुराण—इनमे से किसी भी चीज का उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि रामनाम का हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रो का उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्यो का विकास हुआ और लय हुआ। किन्तु रामनाम की सत्ता अवाधितरूप से विद्यमान है। तुलसीदासजी ने कहा है "कहउँ नाम बड़ राम तें।"—"हे राम, मुझे तुझसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समय के अयोध्यावासियो ने और उस जमाने के नर-वानरो ने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं, लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाम मे है वह तेरे रूप मे नही। हे राम, तूने शबरी, जटायु आदि का उद्धार किया। लेकिन वे तो सुसेवक थे। इसमे तेरा बडप्पन कुछ नहीं। परन्तु तेरे नाम ने अनेक खलजनो का उद्धार किया, यह वेद कहते हैं।"

"शबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल वेद-विदित गुनगाथ।"

तुलसीदासजी कहते हैं, राम की महिमा गानेवाले मूढ है। राम ने तो बडे-बडे सेवको का ही उद्धार किया। परन्तु नाम ने? नाम ने असख्य जड-मूढों का उद्धार किया। शबरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य

और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवो का, इन भक्तजनो का राम ने उद्धार किया। कौन बडी बात हुई? परन्तु रामनाम तो दुर्जनों को भी उबारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है। मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है? मेरे समान दुष्ट मै ही हूँ। मुझे इस विषय मे दूसरो का मत जानने की जरूरत नहीं। नाम से उद्धार होता है। जिन्होने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थ मे खपाया, उनके नाम में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

मनुष्य की विशेषता

इसी मे मनुष्य की विशेपता है। आहार-विहारादि दूसरी बातों में मनुष्य और पशु समान ही हैं। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशु से भी नीच बन सकता है, उसी प्रकार पराक्रम से, पौरुप से वह परमात्मा के निकट भी जा सकता है। मनुष्य में ये दोनों शक्तियॉ हैं। खूब मास और अडे वगैरह खाकर, दूसरे प्राणियों का भक्षणकर वह शेर के समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है; या दूसरो के लिए अपना शरीर भी फेक सकता है। मनुष्य अपने लिए अनेकों का घात करके पशु बन सकता है; या अनेकों के लिए अपना बलिदान कर पवित्रनामा भी बन सकता है। पशु की शक्ति मर्यादित है। उसकी बुराई की भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्य के पतन की या ऊपर उठने की कोई सीमा नहीं है। वह पशु से भी नीचे गिर सकता है, और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है वही चढ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नहीं सकता इसलिए चढ़ भी नही सकता। मनुष्य दोनों बातों में पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगों ने अपना जीवन सारे संसार के लिए अर्पण कर दिया उनके नाम में बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारे के समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं, 'वसिष्ठं तर्पयामि', 'भारद्वाजं तर्पयामि',

'अत्रिं तर्पयामि'। इन ऋषियो के बारे मे हम क्या जानते हैं ? क्या सात या आठ सौ पन्नो मे उनकी जीवनी लिख सकते है ? शायद एकाध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारे के समान मार्ग-दर्शक होगा, प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकड़ो वर्षों के बाद तिलक का नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायेगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नही रहेगा, किन्तु इतिहास के आकाश मे उनका नाम तारे के समान चमकता रहेगा।

'चरित्र' और 'चारित्र्य' का भेद

हमे महापुरुषो के चारित्र्य का अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्र का। दरअसल महत्त्व चारित्र्य का है। शिवाजी महाराज ने सौ दो सौ किले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नहीं समझना चाहिए कि उसी तरह किले बनाने से स्वराज्य प्राप्त होगा। किन्तु जिस वृत्ति से उन्होंने अपना जीवन बिताया और लडाई की वह वृत्ति, वे गुण हमे चाहिए। जिस वृत्ति से शिवाजी ने काम किया उस वृत्ति से हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते है। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समय का रूप हमारे काम का नही है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। कर्त्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणो का स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिन्दुओ ने चरित्र का बोझ छोडकर नाम-स्मरण पर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियो का सारा चरित्र दिमाग मे रखने की कोशिश करें तो उसी के मारे दम घुटने लगे। इसीलिए केवल गुणो का स्मरण करना है, चरित्र का अनुकरण नही।

एक मज़ेदार कहानी

एक कहानी मशहूर है। कुछ लडकों ने 'साहसी यात्री' नाम की

एक पुस्तक पढी। फौरन यह तय किया कि जैसा उस पुस्तक में लिखा है वैसा ही हम भी करे। उस पुस्तक मे बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी जहाँ-तहाँ से बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तक मे लिखा था कि वे एक जंगल मे गये। फिर क्या था? ये भी एक जंगल मे पहुँचे। पुस्तक मे लिखा था कि उन लड़को को जंगल मे एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहाँ से लाये? आखिर, उनमे जो एक बुद्धिमान लडका था वह कहने लगा, "अरे भाई, हमने तो शुरू से आखिरतक गलती ही की। हम उन लड़को की नक़ल उतारना चाहते है। लेकिन यहाँ तो सब कुछ उलटा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढकर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने! हमसे तो शुरू मे ही गलती हुई।"

वास्तविक श्राद्ध

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओं का अनुकरण नहीं कर सकते। चरित्र का तो विस्मरण होना चाहिए। केवल गुणों का स्मरण पर्याप्त है। इतिहास तो भूलने के लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते है। लडको के ध्यान मे वह सब-का-सब रहता भी नहीं है। इसके लिए उन पर फ़ुजूल मार भी पडती है। इतिहास से हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिएँ। जो गुण हैं उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजो के गुणो का श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आज का श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा।

तिलक का गुण-स्मरण

तिलक का पहला गुण कौन-सा था? तिलक जातितः ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं वे भी उनका स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्र के मराठे थे। लेकिन पंजाब के पजाबी और बगाल के बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते है। हिन्दुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका

मराठापन, सब कुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमे रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कार मे तिलक का गुण तो है ही, हमारे पूर्वजो की कमाई का भी गुण है। जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण—दोनो के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत मे सभी जातियो द्वारा पूजे जाते है। दोनो के गुण की ओर हमे ध्यान देना चाहिए।

राष्ट्रीय रामलीला में मैं क्या बनूँ ?

इस अवसर पर मुझे अहल्या की कथा याद आ रही है। रामायण मे मुझे अहल्या की कथा बहुत सुहाती है। राम का सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है। और उसमे यह कथा तो बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नही कि हमारे अन्दर राम (सत्त्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसी को पता हो या न हो। परन्तु आज राष्ट्र में राम है, क्योकि अन्यथा यह जो थोडा-बहुत तेज का सचार देख पड़ता है वह न दिखाई देता। गहराई से देखे तो आज राम का अवतार हो चुका है। यह जो रामलीला हो रही है इसमे कौन-सा हिस्सा लूँ, किस पात्र का अभिनय करूँ, यह मै सोचने लगता हूँ। राम की इस लीला में मै क्या बनूँ ? लक्ष्मण बनूँ ? नही, नहीं। उनकी वह जागृति, वह भक्ति कहाँ से लाऊँ ? तो क्या भरत बनूँ ? नही, भरत की कर्त्तव्य-दक्षता, उत्तरदायित्व का बोध, उनकी दयालुता और त्याग कहाँ से लाऊँ ? हनुमान का तो नाम भी मानो राम का हृदय ही है। तो फिर गाँठ मे पुण्य नही है, इसलिए क्या रावण बनूँ ? ऊँऽऽहूँ। रावण भी नहीं बन सकता। रावण की उत्कटता, महत्त्वाकाक्षा मेरे पास कहाँ है ? फिर मै कौन-सा स्वाँग लूँ ? किस पात्र का अभिनय करूँ ? क्या ऐसा कोई पात्र नहीं है जो मै बन सकूँ ? जटायु, शबरी ?—ये तो सुसेवक थे। अन्त मे मुझे अहल्या नजर आयी। अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

अहल्या का आख्यान

सोचा, मै अहल्या का अभिनय करूँ। जड पत्थर बनकर बैठूँ। इतने मे वह अहल्या बोल उठी, "सारी रामायण मे सबसे तुच्छ जडमूढ पात्र क्या मैं ही ठहरी ? अरे बुद्धिमान, क्या अहल्या का पात्र सबसे निकृष्ट है ? मुझमे क्या कोई योग्यता ही नही ? अरे, राम की यात्रा मे तो अयोध्या से लेकर रामेश्वर तक हजारो पत्थर थे, उनका क्यों नहीं उद्धार हुआ ? मैं कोई नालायक पत्थर नही हूँ। मै भी गुणी पत्थर हूँ।" अहल्या की बात मुझे जँच गयी। परन्तु अहल्या के पत्थर मे गुण थे, तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थर की नहीं। उसी प्रकार सारी महिमा राम के चरणों की भी नहीं। अहल्या के समान पत्थर और राम के चरणो-जैसे चरण, दोनो का संयोग चाहिए। न तो राम के चरणों से दूसरे पत्थरो का ही उद्धार हुआ, और न किसी दूसरे के चरणों से अहल्या का ही।

अहल्या-राम-न्याय

इसे मै अहल्या-राम-न्याय कहता हूँ। दोनो के मिलाप से काम होता है। यही न्याय तिलक के दृष्टान्त पर घटित होता है। तिलक का ब्राह्मणत्व, महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिन्दुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मनाता है। इस चमत्कार में तिलक के गुण और जनता के गुण, दोनो का स्थान है। इस चमत्कार के दोनों कारण हैं। कुछ गुण तिलक का है और कुछ उन्हे माननेवाली साधारण जनता का। हम इन गुणों का जरा पृथक्करण करें।

तिलक का गुण

तिलक का गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारत-वर्ष का विचार किया। तिलक के फूल बम्बई में गिरे, इसलिए वहाँ उनके स्मारक मन्दिर होंगे। उन्होंने मराठी में लिखा, इसलिए मराठी भाषा में

उनके स्मारक होगे। लेकिन तिलक ने जहाँ कही जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा मे क्यो न किया हो, वह सब भारतवर्ष के लिए किया। उन्हे यह अभिमान नही था कि मै ब्राह्मण हूँ, मै महाराष्ट्र का हूँ। उनमे पृथक्ता की, भेद की, भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होने सारे भारतवर्ष का विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियो ने सारे भारतवर्ष का विचार किया, तिलक उनमे से एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टि के सामने आते है वह थे महर्षि न्यायमूर्ति रानडे। तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी जेब मे रक्खा और सारे हिन्दुस्तान के लिए लड़ते रहे। "हिन्दुस्तान के हित मे मेरे महाराष्ट्र का भी हित है, इसीलिए पूने का हित है, पूने मे रहनेवाले मेरे परिवार का हित है और परिवार में रहनेवाले मेरा भी हित है। हिन्दुस्तान के हित का विचार करने से उसी मे महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मै, सबके हित का विचार आ जाता है"। यह तत्त्व उन्होने जान लिया था, और उसीके अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान मे करनी पडेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थान मे रहकर की जानेवाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

मर्यादित क्षेत्र और व्यापक सेवा

शालग्राम मर्यादित है। लेकिन उसमे मैं जिस भगवान् के दर्शन करता हूँ वह सर्वब्रह्माण्डव्यापी, चर-अचर, जड़-चेतन सबमे निवास करनेवाला ही है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। 'जलेस्थले तथा काष्ठे विष्णुः पर्वतमूर्धनि'। उस त्रिभुवन-व्यापक विष्णु को यदि वह पुजारी शालग्राम में न देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी। सेवा करने मे भी खूबी है, रहस्य है। अपने गॉव मे रहकर भी

मैं विश्वेश्वर की सेवा कर सकता हूँ। दूसरे को न लूटते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

कुछ दृष्टान्त

तुकाराम ने अपना देहू नामक गाँव नहीं छोडा। रामदास दस गाँवों मे विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनो की सेवा का फल एक है, अनन्त है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्म से भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तण्डुल लेकर गये थे लेकिन उन तण्डुलो मे प्रचण्ड शक्ति थी। सुदामा की बुद्धि व्यापक थी। बहुत बडा कर्म करने पर भी कुछ अभागो को बहुत थोडा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्म से बहुत बडा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध, निष्पाप, पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है। मूल्य बहुत बडा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धान्त है। माँ का पत्र दो ही शब्दो का क्यो न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रेम की स्याही से पवित्रता के स्वच्छ कागज पर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागज पर क्यो न लिखा हुआ हो, यदि उसके मूल मे शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिखा गया है वह प्रेम मे ढला हुआ न हो, तो सारा पोथा बेकार है।

व्यापकता की मुहर

परमात्मा के यहाँ 'कितनी सेवा', यह पूछ नहीं है। 'कैसी सेवा', यह पूछ है। तिलक अत्यन्त बुद्धिमान, विद्वान्, नाना शास्त्रों के पण्डित थे, इसलिए उनकी सेवा अनेकागी और बहुत बडी है। परन्तु तिलक ने जितनी कीमती सेवा की उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है। तिलक की सेवा विपुल और बहुअगी थी तो भी उसका मूल्य और एक तुच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। एक

गाड़ीभर ज्वार रास्ते से जा रही हो लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेब मे रख सकता हूँ। दस हजार का नोट अपनी जेब मे रख सकता हूँ। उसपर सरकारी मुहरभर लगी हो। आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे पर व्यापक दृष्टि और वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सके, इसीलिए परमात्मा की यह योजना है। चाहे जहाँ चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर सकुचित दृष्टि से न कीजिए। उसमे व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आज के कार्यकर्त्ताओ मे कम पायी जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज सकुचित दृष्टि से काम करते हुए देख पडते है।

तिलक की व्यापकता

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्य मे मिठास और आनन्द है। हिन्दुस्तान के ही नही, बल्कि ससार के किसी भी समाज के वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहाँ सेवा कीजिए। चाहे वह एक गाँव की ही सेवा क्यो न हो, वह अनमोल है। परन्तु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए। फिर देखिए आपके कर्मों मे कैसी स्फूर्ति का संचार होता है। कैसी बिजली का सचार होता है। तिलक मे यही व्यापकता थी। 'मैं भारतीय हूँ', यह शुरू से ही उनकी वृत्ति रही। बंगाल मे आन्दोलन शुरू हुआ। उन्होने दौड़कर उसकी मदद की। बगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खडा किया। स्वदेशी का डका बजवाया। "जब बगाल लडाई के मैदान मे खडा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगाल का दुःख है वह महाराष्ट्र का भी दुःख है।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलक मे थी। इसीलिए पूने

के निवासी होकर भी वे हिन्दुस्तान के प्राण बन गये। सारे देश के प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्ष के लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

जनता का गुण

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनता की विशेषता। जनता का यह गुण कार्यकर्त्ताओं मे भी है, क्योंकि वे भी तो जनता के ही हैं। लेकिन उनको ख़ुद इस बात का पता नहीं है। तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने-आपको जनता के चरणो की धूल समझते थे। जनता के दोष, जनता की दुर्बलता, जनता की त्रुटियाँ, सब कुछ वे अपनी ही समझते थे। वे जनता से एकरूप हो गये थे, इसलिए जनता के गुणो का स्मरण तिलक के गुणो का स्मरण ही है।

भारतीय राष्ट्रधर्म—हमारे पूर्वजों की देन

यह जो जनता का गुण है वह हमारा कमाया हुआ नहीं है। हमारे महान्, पुण्यवान्, विशालदृष्टिवाले पूर्वजो की यह देन है। यह गुण मानों हमने अपनी माँ के दूध के साथ ही पीया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजो ने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रान्त का, किस जाति का है, यह देखने के बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं, वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमे यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजो ने यहाँ आकर हमे देशाभिमान सिखाया। तब कहीं हम राष्ट्रीयता से परिचित हुए। पर यह गलत है। एकराष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसी ने सिखायी है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजों ने। उन्हीं की कृपा से यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

'दुर्लभं भारते जन्म'

हमारे राष्ट्रर्षि ने हमें यह सिखावन दी कि 'दुर्लभं भारते जन्म'।

'दुर्लभं वंगेषु जन्म', 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म', ऐसा उन्होने नही कहा। ऋषि ने तो यही कहा कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। काशी मे गगातट पर रहनेवाले को किस बात की तडप होती है ? वह इसके लिए तडपता है कि काशी की गंगा की बहँगी या कॉवर भरकर कब रामेश्वर को चढ़ाऊँ ? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकान का ऑगन और पिछवाडा हो। वास्तव मे तो काशी और रामेश्वर मे पन्द्रह सौ मील का फासला है, परन्तु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियो ने ऐसा वैभव दिया है कि आपका ऑगन पन्द्रह सौ मील का है। रामेश्वर मे रहनेवाला इसलिए तडपता है कि रामेश्वर के समुद्र का जल काशी-विश्वेश्वर के मस्तक पर चढाऊँ। वह रामेश्वर का समुद्र-जल काशी तक ले जायगा। कावेरी और गोदावरी के जल मे नहानेवाला भी 'जयगगे' 'हरगगे' ही कहेगा। गगा सिर्फ काशी मे ही नही, यहॉ पर भी है। जिस बर्त्तन मे हम नहाने के लिए पानी लेते है उसे भी गगाजल (गंगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

भारतीय राष्ट्र-भावना

यह भावना आध्यात्मिक नही, किन्तु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नही कहेगा। वह कुछ और ही कहेगा। जैसा कि तुकाराम ने कहा, 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्ये वास ॥' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्मा की मर्यादा को व्यापक बना दिया। सारे दरवाजो, सारे किलो को तोडकर आत्मा को प्राप्त किया। तुकाराम के समान महापुरुषो ने, जो आध्यात्मिक रॅग मे रॅगे हुए थे, अपनी आत्मा को स्वतन्त्र सञ्चार करने दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावना से प्रेरित होकर, सारे भेद-भावो को पार कर जो सर्वत्र चिन्मयता के दर्शन कर सके वे धन्य है। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्व के हैं। इनकी कोई सीमा नही है। परन्तु 'दुर्लभं भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियो ने की वह आध्यात्मिक नहीं, राष्ट्रीय है।

वाल्मीकि में राष्ट्र-भावना

वाल्मीकि ने अपनी रामायण के प्रारम्भिक श्लोको मे राम के गुणों का वर्णन किया है। राम का गुणगान करते हुए राम कैसे थे इसका वे यों वर्णन करते हैं कि, 'समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'—"स्थिरता ऊपरवाले हिमालय-जैसी और गाम्भीर्य पैरों के निकटवाले समुद्र-जैसा।" देखिए, कैसी विशाल उपमा है। एक सास मे हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तक के दर्शन कराये। पॉच मील ऊँचा पर्वत और पॉच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकि के रोम-रोम मे राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था। इसलिए वे सार्व-राष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृत मे है तो भी सबकी आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्र में प्रिय है उतनी ही मद्रास की तरफ केरल मे भी है। श्लोक के एक ही चरण मे उत्तर भारत और दक्षिण का समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है!

हमारे राष्ट्र-धर्म की विशेषता

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो, तो हम तुरन्त बोल उठेंगे, हम पैंतीस करोड बहन-भाई है। अंग्रेज से पूछो तो वह चार करोड़ बतलायेगा। फरासीसी सात करोड बतलायेगा। जर्मन छः करोड बतलायेगा। बेल-जियन साठ लाख बतलायेगा। यूनानी आध करोड़ बतलायेगा। और हम पैं—ती—स करोड़! ऐसा फर्क क्यों हुआ? हमने इन पैंतीस करोड़ को एक माना। उन्होने नही माना। सच पूछो तो जर्मनों की भाषा और फरासीसियों की भाषा अधिक विसदृश नहीं है, जैसी मराठी और गुज-राती। यूरोप की भाषाएँ लगभग एक-सी हैं। उनका धर्म भी समान है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रो में परस्पर रोटी-बेटी-व्यवहार भी होता है। लेकिन फिर भी उन्होंने यूरोप के अलग-अलग टुकडे कर डाले! हिन्दुस्तान के प्रान्तों ने अपने को अलग-अलग नहीं माना। यूरोप के लोगों ने ऐसा

मान लिया। हिन्दुस्तान भी तो रूस को छोड़ बाकी के सारे यूरोप के बराबर एक खण्ड (महाद्वीप) ही है। लेकिन हमने भारत को एक खण्ड, यानी अनेक देशो का समुदाय न मानकर भारतवर्ष के नाम से सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

यूरोप की भेद-भक्ति

उन अभागे यूरोपवासियो ने सारा यूरोप एक नही माना। उन्होने यूरोप को एक खण्ड (महाद्वीप) माना। उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये। एक-एक टुकड़े को अपना मान लिया और एक दूसरे से घनघोर युद्ध किये। पिछले महासमर को ही ले लीजिए। लाखो लोग मरे। वे एक दूसरे से लड़े, मगर आपस मे नही लड़े। यह कुसूर उन्होने नही किया। लेकिन हमने भारत को एक राष्ट्र मान लिया और हम आपस मे लड़े।

हमारा दोष भी भूषण है

अंग्रेज या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते है कि "तुम आपस मे लडते रहे, अन्तस्थ कलह करते रहे।" आपस मे लड़ना बुरा है, यह तो मै भी मानता हूँ। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोप पर अभिमान है। हम लड़े, लेकिन आपस मे। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक है, यह बात इन इतिहासकारो को भी मजूर है। उनके आक्षेप मे ही यह स्वीकृति आ गयी है। कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक दूसरे से लडे, लेकिन अपने ही देश मे आपस मे नही लड़े। लेकिन इसमे कौन-सी बड़ाई है। एक छोटे-से मानव-समुदाय को अपना राष्ट्र कह कर यह शेखी बघारना कि हमारे अन्दर एकता है, आपस मे फूट नही है, कौन-सी बहादुरी है ? मान लीजिये कि मैने अपने राष्ट्र की 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर', इतनी संकुचित व्याख्या कर ली; तो आपस मे कभी युद्ध ही न होगा। हॉ, मै ही अपने मुँह मे चट से एक थप्पड जड़ दूँ तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परन्तु 'मै ही मेरा राष्ट्र हूँ' ऐसी व्याख्या करके

मै अपने भाई से, माँ से, किसी से भी लडूँ, तो भी वह आपस की लडाई नहीं होगी, क्योकि मैने तो अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर को ही अपना राष्ट्र मान लिया है। साराश, हम आपस मे लडे यह अभियोग सही है, परन्तु वह अभिमानास्पद भी है, क्योंकि इस अभियोग मे ही अभियोग लगानेवाले ने यह मान लिया है कि हम एक है, हमारा एक ही राष्ट्र है। यूरोप के अभागो ने इस कल्पना का विनाश किया। हमें उसकी शिक्षा दी गयी है। इतना ही नहीं, वह हमारी रगरग मे पैठ गयी है। हम पुराने जमाने में आपस मे लडे, तो भी यह एकराष्ट्रीयता की भावना आज भी विद्यमान है। महाराष्ट्र ने पजाब पर, गुजरात और बंगाल पर चढ़ाइयाँ कीं, फिर भी यह एक राष्ट्रीयता की, आत्मीयता की भावना नष्ट नही हुई।

जनता-व्यापी भावना

जनता के इस गुण की बदौलत तिलक सब प्रान्तों मे प्रिय और पूज्य हुए। तिलक-गाधी तो अलौकिक पुरुष है। सब प्रान्त उन्हें पूजेंगे ही। परन्तु राजगोपालाचार्य, जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं। लेकिन उनकी भी सारे प्रान्तो मे प्रतिष्ठा है। पजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटक उनका आदर करते है। हमे उसका पता भले ही न हो, लेकिन एकराष्ट्रीयता का यह महान् गुण हमारे खून मे ही घुल-मिल गया है। हमारे यहाँ एक प्रान्त का नेता दूसरे प्रान्त मे जाता है, लोगो के सामने अपने विचार रखता है। क्या यूरोप मे यह कभी हो सकता है? जरा जाने दीजिए मुसोलिनी को रूस में फासिजम पर व्याख्यान देने। लोग उसे पत्थर मार-मार कर कुचल डालेंगे या फाँसी पर लटका देंगे। हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते हैं तो कैसा जबरदस्त बन्दोबस्त किया जाता है, कैसी चुपचाप गुप्त रूप से मुलाकात होती है। मानों दो खूनी आदमी किसी साजिश के लिए एक दूसरे से मिल रहे हों! किले, परकोटे, दीवारें सब तरफ खड़ी करके सारे

यूरोप मे द्वेष और मत्सर फैला दिया है इन लोगो ने। पर हिन्दुस्तान मे ऐसी बात नहीं है। तिलक-गाधी को छोड दीजिए। ये लोकोत्तर पुरुष है। किन्तु दूसरे साधारण लोगो का भी सर्वत्र आदर होता है। लोग उनकी बाते ध्यान से सुनते है। ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियो ने हमे सिखायी है। समाज और जनता मे सर्वत्र इसका असर मौजूद है। अज्ञात रूप से वह हमारी नस-नस मे विद्यमान है।

तिलक की जनता से एकरूपता

हमे इस गुण का पता नही था। आइए, अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय करलें। आज तिलक का स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी, सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी, क्योंकि तिलक की दृष्टि व्यापक थी। वह सारे भारतवर्ष का विचार करते थे। वह सारे हिन्दुस्तान से एकरूप होगये थे। यह तिलक की विशेषता है। भारत की जनता भी प्रान्ताभिमान आदि का खयाल न करती हुई गुणों को पहचानती है। यह भारतीय जनता का गुण है। इन दोनो के गुणों का यह चमत्कार है कि तिलक का सर्वत्र सब लोग स्मरण कर रहे है। जैसे एक ही आम की गुठली से पेड़, शाखा और आम पैदा होते है उसी प्रकार एक ही भारत माता के बाह्यतः जुदा-जुदा पुत्र दिखाई देते है—कोई क्रोधी, कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठली से पैदा होते है उसीसे पेड़ का कठिन-धड़ भी पैदा होता है। इसी तरह हम ऊपर से कितने ही भिन्न क्यो न दिखाई दे, तो भी हम एक ही भारतमाता की सन्तान है, यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यान मे रखकर प्रेम-भाव बढाते हुए सेवको को सेवा के लिए तैयार होना चाहिए। तिलक ने ऐसी ही सेवा की। आशा है, आप भी करेंगे। १-८-१९३९]

: २० :

निर्भयता के प्रकार

निर्भयता तीन प्रकार की होती है—विज्ञ निर्भयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेकी निर्भयता। 'विज्ञ' निर्भयता वह निर्भयता है जो खतरों से परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेने से आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी साँपो से जान-पहचान हो गयी, निर्विष और सविष साँपो का भेद जिसने जान लिया, साँप पकडने की कला जिसे सिद्ध हो गयी, साँप काटने पर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम हो गये, साँप से बचने की युक्ति जिसे विदित हो गयी, वह साँपो की तरफ से काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता साँपोतक ही सीमित रहेगी। हरएक को शायद वह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे साँपो में रहना पडता है उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोग की चीज है। क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है वह मनुष्य को अ-स्वाभाविक आचरण से बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, मनुष्य को पूर्ण निर्भय बनाती है। परन्तु दीर्घ प्रयत्न, पुरुषार्थ, भक्ति इत्यादि साधनों के सतत अनुष्ठान के बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवान्तर सहायता की जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी, विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्य को अनावश्यक और ऊटपटाँग साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरे का

सामना करना ही पडे तो विवेक से बुद्धि शान्त रखना सिखाती है। साधक को चाहिए कि वह इस विवेकी निर्भयता की आदत डालने का प्रयत्न करे। वह हरएक की पहुँच मे है।

मान लीजिए कि मेरा शेर से सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। सम्भव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी ही न हो। अगर बदी हो तो वह टल नहीं सकती। परन्तु यदि मै भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शान्त रखने का प्रयत्न करूँ तो बचने का कोई रास्ता सूझने की सभावना है। या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मै अपना होश बनाये रखूँ तो अन्तिम समय मे हरि-स्मरण कर सकूँगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनो तरह से लाभदायी है। और इसीलिए वह सबके प्रयत्नो का विषय होने योग्य है। [अक्तूबर, १९४०

: २१ :

आत्मशक्ति का अनुभव

सत्पुरुषों की अखण्ड परम्परा

आप सब जानते है कि आज गॉधीजी का जन्म-दिन है। ईश्वर की कृपा से हमारे इस हिन्दुस्तान मे गॉधीजी-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए है। ईश्वर हमारे यहॉ समय-समय पर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइए, हम ईश्वर से प्रार्थना करे कि हमारे देश मे सत्पुरुषो की ऐसी ही अखण्ड परम्परा चलती रहे।

खादी-सप्ताह

मै आज गाधीजी के विषय मे कुछ न कहूँगा। अपने नाम से कोई उत्सव हो, यह उन्हे पसन्द नही है। इसलिए उन्होंने इस सप्ताह को खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपने से सम्बन्ध रखनेवाले उत्सव को कोई प्रोत्साहन नहीं दे सकता, परन्तु गाधीजी इस उत्सव को प्रोत्साहन दे सकते हैं। कारण, यह उत्सव एक सिद्धान्त के प्रचार के लिए, एक विचार के विस्तार के लिए मनाया जाता है।

मनुष्य ईश्वर का सन्देश है

गाधीजी किसी ज्ञानी पुरुष के एक कथन का जिक्र किया करते हैं, जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्ति का जीवन जबतक समाप्त नहीं हो जाता तबतक उसके विषय मे मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्ति का स्थूल चरित्र भूलजाने-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वर की लिखी हुई एक चिट्ठी है, एक सन्देश है। चिट्ठी का मजमून देखना

चाहिए। उसकी लम्बाई-चौड़ाई और वजन देखने से मतलब नहीं है।

संकल्प-बल

अभी यहाँ जो कार्यक्रम रहा उसमे लडको ने खासा उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमो मे लडके हमेशा उत्साह और आनन्द से शरीक होते हैं। परन्तु जो प्रौढ लोग यहाँ इकट्ठे हुए उन्होने एकत्र बैठकर उत्साह से सूत काता, यह कार्यक्रम का बहुत सुन्दर अग है। साल भर मे कई त्योहार आते हैं, उत्सव भी होते हैं। हम उस दिन के लिए कोई-न-कोई कार्यक्रम भी बना लेते हैं, परन्तु उसी दिन के लिये कार्यक्रम बनाने से हम उस उत्सव से पूरा लाभ नही उठा सकते। ऐसे अवसरो पर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हमे सालभर तक चलाना चाहिए। इसलिए यहाँ एकत्र हुई मण्डली को मैने यह सुझाया कि वे लोग आज से अगले साल के इसी दिनतक रोज आध घटा नियमित रूप से कातने का सकल्प करे। अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेगे तो उस निश्चय को पूरा करने मे ईश्वर आप की हर तरह से सहायता करेगा। ईश्वर तो इसके इन्तजार मे ही रहता है कि कौन कब शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करने का सुयोग मुझे मिले। रोज नियमित रूप से सूत कातिए। लेकिन इतना ही काफी नहीं है। उसका लेखा भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगो के लिए नहीं रखना है, अपने दिल को टटोलने के लिए रखना है। निश्चय छोटा-सा ही क्यो न हो, मगर उसका पालन पूरा-पूरा होना चाहिए। हम ऐसा करेंगे तो उससे हमारा संकल्प-बल बढ़ेगा। यह शक्ति हमारे अन्दर भरी हुई है, लेकिन हमे उसका अनुभव नहीं होता। आत्म-शक्ति का अनुभव हमे नही होता, क्योंकि कोई-न-कोई संकल्प करके उसे पूरा करने की आदत हम नहीं डालते। छोटे-छोटे ही संकल्प या निश्चय कीजिए और उन्हें कार्यान्वित कीजिए तब आत्मशक्ति का अनुभव होने लगेगा।

मरणोन्मुख आत्म-ज्ञान

दूसरी बात यह है कि गॉव मे जो काम हुआ है उसके विवरण से यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते है जिन्हे इस काम मे शुरू से दिलचस्पी रही। हमे इसकी जांच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमे क्यो नहीं शामिल होते। कातनेवाले कातते है इतना ही काफी नहीं है। इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यो नहीं कातते। हमने अपना फर्ज अदा कर दिया इतना बस है, ऐसा कहने से काम नही चलेगा। इसका भी चिन्तन करना चाहिए कि यह चीज गॉवभर मे कैसे फैलेगी? इसमे असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हो कि सारा गॉव एक है। जब आग लग जाती है, बाढ आती है या कोई छूत की बीमारी फैलने लगती है, तभी हम सारे गॉव का विचार करते हैं। लेकिन यह तो अपवाद हुआ। हमारे नित्य के व्यवहार मे यह बात नही पायी जाती। जब किसी का स्पर्श-ज्ञान बिलकुल नष्ट होनेवाला होता है तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नहीं पडता। जोर से चुटकी काटिए तो थोड़ा-सा पता चलता है। यही हाल हमारा है। हमारा आत्म-ज्ञान बिल्कुल मरणोन्मुख हो गया है।

मनुष्य और पशु का भेद

पशुओ का आत्मज्ञान उनकी देह तक सीमित रहता है। वे अपनी सन्तान को भी नहीं पहचानते। अलबत्ता मादा को कुछ दिनों तक यह ज्ञान होता है, क्योकि उसे दूध पिलाना पड़ता है। लेकिन यह पहचान भी तभीतक होती है जबतक वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद अक्सर वह भी भूल जाती है। नर को तो उतनी भी पहचान नही होती। कुछ जानवरों मे तो बाप अपने बच्चे को खा ही जाता है। मनुष्य अपने बाल-बच्चो को पहचानता है, इसलिए वह पशु से श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है, इसका

निश्चय उसके आकार से नहीं होता। उसकी आत्मरक्षा की शक्ति या युक्ति से भी इसका पता नही चलता। उसका आत्मज्ञान कितना व्यापक है, इसी से उसके बडप्पन का हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियो का आत्मज्ञान उनके शरीर तक ही रहता है। जगली मानी गयी जाति के मनुष्यो मे भी वह कम-से-कम उनके परिवारतक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है वह सारे घर की मानी जाती है। कुछ कुटुम्बो मे तो यह कौटुम्बिक प्रेम भी नही होता। भाई-भाई, पति-पत्नी और बाप-बेटो मे झगड़े-टटे होते रहते है।

कुटुम्ब-निष्ठा और ग्राम-निष्ठा

हिन्दुस्तान मे फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोडा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुम्ब से बाहर वह बहुत कम मात्रा मे है। जब कोई भारी आपत्ति आ पड़ती है तो उतने समय के लिए सारा गॉव एक हो जाता है। आम तौर पर कुटुम्ब से, बाहर देखने की वृत्ति नही है। इसका यह मतलब हुआ कि हिन्दुस्तान का आत्म-ज्ञान मौत की तरफ बढ रहा है, इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गॉव को एक इकाई मानकर सारे गॉव की चिन्ता कीजिए। यह गोपालकृष्ण का मन्दिर कौन-सा सन्देश सुनाता है? इस मन्दिर का मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उसके सब बालको को जाने की इजाजत होनी चाहिए। यह मन्दिर हरिजनो के लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किन्तु मन्दिर खोलने का पूरा अर्थ समझकर, 'इस गोपालकृष्ण की छत्रच्छाया मे यह सारा गॉव एक है,' ऐसी भावना का विकास कीजिए।

विदेशी माल ख़रीदने का पाप

गॉव की प्राथमिक आवश्यकता की चीजे गॉव मे ही बननी चाहिऍ। अगर हम ऐसी चीजे बाहर से लाने लगेगे तो बाहर के लोगो पर ज़ुल्म होगा। जापान की मिलो और कारख़ानो मे मजदूरो को बारह बारह

घटे काम करना पड़ता है। कम-से-कम मजदूरी में उनसे ज़्यादा-से ज़्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते हैं? हिन्दुस्तान के बाजार अपने हाथ मे रखने के लिए। मगर उनकी भाषा मे "हमारी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए।" यह वहाँ के मालदार पूँजीपति करते है। वहाँ के गरीबो का इसमें कोई फायदा नहीं। वहाँ के मालदार आदमियो का भी कल्याण इसमे नहीं है और हमारा तो हरगिज़ नहीं है। हमारे उनका माल खरीदने से उन्हे जो पैसा मिलता है उसका वे कैसा उपयोग करते है? उस पैसे से वे बम बनाते है। उनकी बदौलत वे आज चीन को हरा रहे है। इगलैड, जर्मनी आदि राष्ट्रो का भी यही कार्यक्रम है। बाहर का माल खरीदकर हम इस प्रकार दुर्जनो का लोभ बढाते हैं, शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद बनाने के लिए पैसा देते हैं। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान करदेने के लिए हो रहा है।

दुष्टता से सहयोग

बीस-बीस हज़ार फुट की ऊँचाई पर से बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बडे गर्व से कहते हैं कि "हमने लन्दन को बेचिराग़ कर दिया।" अंग्रेज कहते हैं,"हमने बर्लिन को भून डाला।" और हम लोग समाचारपत्रो मे ये सब ख़बरें पढ पढ़ कर मजे लेते है। औरतें और बच्चे मर रहे हैं। मन्दिर, विद्यालय और दवाख़ाने ज़मींदोज़ हो रहे हैं। लडनेवाले और न लड़नेवालो मे कोई फर्क़ नहीं किया जाता। क्या इन लड़नेवालों को हम पापी कहे? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते है? हम ही तो उनका माल ख़रीदते हैं?

परस्पर दान और सहयोग

इस प्रकार हम दुर्जनों को उनके दुष्ट कार्य मे सक्रिय सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी ज़रूरत की चीजें ख़रीदते हैं; हम किसी की मदद नहीं करते। ख़रीदना और बेचना केवल

मामूली व्यवहार नही है। उनमे भी परस्पर दान है। हम जो खरीदार हैं और वे जो बेचनेवाले हैं, दोनो एक दूसरे की मदद करते हैं। हम परस्पर के सहयोगी है। एक दूसरे के पाप-पुण्य मे हमारा हिस्सा है। अमेरिका नकद सोना लेकर इंगलैण्ड को सोना बेचता है, तो भी यह माना जाता है कि वह इंगलैण्ड की मदद करता है और अंग्रेज़ इस सहायता के लिए उसका उपकार मानते है। व्यापार-व्यवहार मे भी पाप-पुण्य का बडा भारी सवाल है। बैकवाला हमे व्याज देता है, लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापार मे लगाता है। बैक मे पैसे रखनेवाला उसके पाप-पुण्य का हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पाप के लिए होता हो ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गॉव की प्राथमिक आवश्यकता की चीजे बनाने का काम भी दूसरों को सौपने का मतलब यह है कि हम खुद परावलम्बन और आलस्य का पाप करते है और दूसरो को भी पाप मे डालने मे सहायता करते है।

स्वावलम्बन अर्थात् दुर्जनों की शक्ति का नाश

हिन्दुस्तान और चीन दोनो बहुत बड़े देश है। उनकी जन-सख्या पचासी करोड़, यानी ससार की जन-सख्या के आधे से कुछ ही कम है। इतने बड़े देश है, लेकिन सिवा नाज के इनमे और क्या उत्पन्न होता है? ये दो विराट् लोक-संख्या वाले देश गैरमुल्को के माल के खरीदार है। चीन मे तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिन्दुस्तान मे वह भी नहीं होता। हिन्दुस्तान सर्वथा परावलम्बी है। हम समझते है कि हम तो अपनी जरूरत की चीजें खरीदते है; हमसे मिले हुए पैसे का उपयोग जो लोग पाप मे करते होगे वे पापी हैं, हम कैसे पापी हुए? बौद्ध-धर्मावलम्बी स्वयं जानवरो को मारना हिंसा समझते है; लेकिन कसाई के मारे हुए जानवर का मास खाने मे वे हिंसा नहीं मानते। उसी प्रकार का विचार यह भी है। हमे ऐसे भ्रम मे नहीं रहना चाहिए।

गाधीजी जब यह कहते है कि खादी और ग्रामोद्योग के द्वारा प्रत्येक गाँव को स्वावलम्बी बनना चाहिए तब वे हरएक गाँव को सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनो से लोगो पर जुल्म करने की शक्ति भी छीन लेना चाहते है। इस उपाय से दुर्जन और उन्हे शक्ति देनेवाले आलसी लोग, दोनो पुण्य के रास्ते पर आयेंगे।

हमारी ज़िम्मेदारी

हम अपने पैरो पर खडे रहने मे किसी से द्वेष नहीं करते। अपना भला करते है। अगर हम लंकाशायर, जापान या हिन्दुस्तान की मिलो का कपड़ा न खरीदे तो मिलवाले भूखो न मरेंगे। उनका पेट तो पहले ही भरा हुआ है। बुद्धिमान होने के कारण वे दूसरे कई धन्धे भी कर सकते है। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठने के कारण उत्तरोत्तर कंगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहर का माल खरीदकर हमने दुर्जनो का बल बढाया है। दुर्जन सघटित होकर आज दुनिया पर राज कर रहे है। इसके लिए हम सब तरह से ज़िम्मेदार है।

दुर्जनों की कोई जाति नहीं

वास्तव मे ईश्वर ने दुर्जनों की कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्य-संग्रह की धुन सवार हो जाती है तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलम्बी हो गये, हमारे गॉव अपने उद्योग के बल अपने पैरो पर खड़े हो सके, तो सज्जन को दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्ति की जडे ही उखड जायेंगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं उनकी लोगों पर ज़ुल्म करने की शक्ति निन्यानवे फ़ीसदी गायब हो जायगी। "लेकिन जुल्म करने की जो एक प्रतिशत शक्ति शेष रह जायगी उसका क्या इलाज है?" निन्यानवे प्रतिशत नष्ट हो जाने के बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप मुरझा जायगा। लेकिन जैसे चिराग़ बुझने के वक्त ज्यादा भभकता है उसी तरह अगर यह

एक प्रतिशत जोर मारे तो हमे उसका प्रतिकार करना पड़ेगा।

निर्वैर प्रतिकार का अस्त्र

इसके लिए सत्याग्रह के शस्त्र का आविष्कार हुआ है। दुर्जनों से हमे द्वेष नही करना है, पर दुर्जनता का प्रतिकार अपनी पूरी ताकत से करना है। आजतक दुर्जनो की सत्ता जो ससार मे चलती रही इसका सबब यह है कि लोग दुर्जनो के साथ व्यवहार करने के दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' शब्द से मेरा मतलब है 'सज्जन कहे जानेवाले लोग।' या तो वे 'झगड़े का मुँह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाना जानते थे, या फिर दुर्जनो से दुर्जन होकर लडते थे। जब मैं दुर्जन से उसी का शस्त्र लेकर लड़ने लगता हूँ तो उसमे और मुझमे जो भेद है उसे बताने का इसके सिवा दूसरा तरीका ही नहीं है कि मै अपने माथे पर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका लूँ; और जब मै उसका शस्त्र बरतता हूँ तो अपने शस्त्र के प्रयोग मे वही अधिक प्रवीण होगा, अर्थात् मेरी किस्मत मे पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको मात करना चाहिए। जो थोड़े-बहुत सज्जन थे वे इस 'दुष्ट-चक्र' से डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे। इन दोनो पगडडियो को छोड़कर हमे सत्याग्रह से यानी स्वयं कष्ट सहकर, अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवाले के प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभग शस्त्र हमे प्राप्त हुआ है। इसी शस्त्र का वर्णन करते हुए ज्ञानदेव ने कहा है, "अगर मित्रता से ही बैरी मरता हो तो नाहक कटार क्यो बाँधें?" गीता कहती है, "आत्मा अमर है, मारनेवाला बहुत करेगा तो हमारे शरीर को मारेगा; हमारी आत्मा को, हमारे विचार को वह नही मार सकता।" यह गीता की सिखावन ध्यान मे रखते हुए सज्जनो को निर्भयता और निर्वैर बुद्धि से प्रतिकार के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

निन्यानवे प्रतिशत और एक प्रतिशत

दुर्जनो की निन्यानवे प्रतिशत शक्ति नष्ट करने का काम खादी और ग्रामोद्योगो का है। निन्यानबे प्रतिशत जनता के लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक प्रतिशत काम अहिंसक प्रतिकार का है। यदि पहला सुचारु रूप से हो जाय तो दूसरे की ज़रूरत ही न पड़नी चाहिए। और अगर ज़रूरत पड़े ही तो उसके लिए जनसंख्या के एक प्रतिशत की भी आवश्यकता न होनी चाहिए। थोड़े से निर्भय, निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषो द्वारा यह काम हो सकता है। मै समझता हूँ इन बातो मे गान्धी-जयन्ती का सारा सार आ जाता है। [२–१०–४०

: २२ :

सेवा का आचार-धर्म

सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु ।
सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

मैंने आज अपने भाषण का आरम्भ जिस मत्र से किया है वह मंत्र हमारे देश के लोग पाठशाला मे अध्ययन शुरू करते समय पढा करते थे ! यह मत्र गुरु और शिष्य के मिल कर कहने के लिये है । "परमात्मा हम दोनो का एक साथ रक्षण करे। एक साथ पालन करे। हम दोनो जो कुछ सीखे वह, हम दोनो की शिक्षा, तेजस्वी हो । हम दोनो मे द्वेष न रहे । और सर्वत्र शाति रहे ।" यह इस मत्र का सक्षिप्त अर्थ है । आश्रम मे भोजन के प्रारम्भ मे यही मत्र पढा जाता है । अन्यत्र भी भोजन आरम्भ करते समय इसे पढ़ने की प्रथा है । "इस मत्र का भोजन से क्या सम्बन्ध है ? इसके बदले कोई दूसरा भोजन के समय पढने योग्य मत्र क्या खोजा ही नही जा सकता ?" यह सवाल एक बार बापू से किया गया था । उन्होने वह मेरे पास भेज दिया था । मैंने एक पत्र मे उसका विस्तार से उत्तर दिया है । वही मै थोड़े मे यहाँ कहनेवाला हूँ ।

समाज के दो विभागों का सहजीवन

इस मत्र मे समाज दो भागो मे बाँटा गया है और ऐसी प्रार्थना की गयी है कि परमात्मा दोनो का एक साथ रक्षण करे। भोजन के समय इस मंत्र का उच्चार अवश्य करना चाहिए; क्योकि हमारा भोजन केवल पेट

भरने के लिए ही नहीं है, ज्ञान और सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए है। इतना ही नहीं, इसमे यह भी मॉग की गयी है कि हमारा वह ज्ञान, वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान एक साथ कराये। इसमे केवल पालन की प्रार्थना नहीं है। एक साथ पालन की प्रार्थना है। पाठशाला मे जिस प्रकार गुरु और शिष्य होते है उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवार मे पुरानी और नयी पीढी, समाज मे स्त्री-पुरुप, वृद्ध-तरुण, शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद है। उसमे फिर गरीब अमीर का भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है। हमारे इस हिन्दुस्तान मे तो असख्य भेद हैं। यहॉ प्रान्त-भेद है। यहॉ का स्त्री-वर्ग बिल्कुल अपग रहता है। इसलिए यहाँ स्त्री-पुरुष मे भी बहुत बड़ा भेद है। हिन्दू और मुसलमान का भेद तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु हिन्दू-हिन्दू मे भी, हरिजनों और दूसरो मे भेद है। हिन्दुस्तान की तरह ये भेद संसार में भी है। इसलिए इस मत्र में यह प्रार्थना की गयी है कि हमे "एक साथ तार, एक साथ मार।" मारने की प्रार्थना प्रायः कोई नहीं करता। इसलिये यहॉ एक साथ तारने की प्रार्थना है। लेकिन "यदि तुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार", ऐसी प्रार्थना है। साराश, "हमें दूध देना है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देना है तो भी एक साथ दे, हमारे साथ जो कुछ करना है वह सब एक साथ कर", ऐसी प्रार्थना इस मत्र मे है।

यह भेद कैसे दूर हो?

देहात के लोग यानी किसान और शहराती, ग़रीब और अमीर, इनका अन्तर जितना कम होगा उतना ही देश का क़दम आगे बढेगा। अन्तर दो तरह से मेटा जा सकता है। ऊपरवालों के नीचे उतरने से और नीचेवालों के ऊपर चढ़ने से। परन्तु दोनों ओर से यह नहीं होता। हम सेवक कहलाते है लेकिन किसान-मजदूरो की तुलना में तो चोटी पर ही हैं।

भोग और ऐश्वर्य किसे कहें ?

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहे ? मै अच्छा स्वादिष्ट भोजन करूँ और पडोस मे ही दूसरा भूखो मरता रहे, इसे ? उसकी नजर बराबर मेरे भोजन पर पडती रहे और मैं उसकी परवाह न करूँ ? उसके आक्रमण से अपनी थाली की रक्षा करने के लिए एक डडा लेकर बैठूँ ? मेरा स्वादिष्ट भोजन और डंडा तथा उसकी भूख, इसे ऐश्वर्य माने ? एक सज्जन आकर मुझसे कहने लगे कि "हम दो आदमी एकत्र भोजन करते है, परन्तु हमारी निभ नही सकती। मैने अब अलग भोजन करने का निश्चय किया है।" मैने पूछा, "सो क्यो ?" उन्होने जवाब दिया, "मै नारगियॉ खाता हूँ, वह नही खाते; वह मजदूर है, इसलिए वह नारगियॉ खरीद नही सकते। अतः उनके साथ खाना मुझे अनुचित लगता है।" मैने पूछा—"क्या अलग घर मे रहने से उनके पेट मे नारगियॉ चली जायँगी ? आप दोनो मे जो व्यवहार आज हो रहा है वही ठीक है। जबतक दोनो एक साथ खाते है तबतक दोनो के निकट आने की सम्भावना है। एकाध बार आप उनसे नारंगियॉ लेने का आग्रह भी करेंगे। लेकिन यदि आप दोनो के बीच सुरक्षितता की दीवार खडी कर दी गयी तो भेद चिरस्थायी हो जायेगा। दीवार को सुरक्षितता का साधन मानना कैसा भयकर है ! हिन्दुस्तान मे हम सब कहते है, हमारे सन्तो ने पुकार-पुकार कर कहा है, कि ईश्वर सर्वसाक्षी है, सर्वत्र है। फिर दीवार की ओट मे छिपने से क्या फायदा ? इससे दोनो का अन्तर थोडे ही घटेगा ?"

सेवकों का भी यही हाल

यही हाल हम खादी-धारियो का भी है। जनता के अन्दर अभी खादी का प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसलिए जितने खादीधारी है वे सब सेवक ही है। यह कहा जाता है कि हमे और आपको गॉवो में जाना

चाहिए। लेकिन देहात मे जाने पर भी, वहॉ के लोगों को जहॉं सूखी रोटी नही मिलती वहॉ मैं पूरी खाता हूॅ। मेरा घी खाना उस भूखे को नहीं खटकता। आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पेटभर रोटी मिल जाय तो तेरे घी की मुझे ईर्ष्या नहीं। मुझे तेल ही मिलता रहे तो भी संतोष है। यह भेद उसे भले ही न अखरता हो; मगर हम सेवकों को बहुत अखरता है। लेकिन इस तरह कबतक चलता रहेगा? पार-साल मे एक खासा दुबला-पतला जीव था। इस साल मुटा गया हूॅ। मुझे यह मुटापा बहुत खटकता है। मै भी उन्ही लोगों जैसा दुबला-पतला हूॅ, यह सन्तोष अब जाता रहा।

देहाती रहन-सहन में सुधार

इस टॅगी हुई तख्ती पर लिखा है कि आवश्यकताऍ बढाते रहना सभ्यता का लक्षण नहीं है; बल्कि आवश्यकताओं का संस्करण सभ्यता का लक्षण है। तो भी मै कहता हूॅ कि देहातियो की आवश्यकताऍ बढानी चाहिऍ। उन्हे सुधारना भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताऍ आज तो पूरी भी नही होती। उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है। उनके जीवन का मान बढ़ाना चाहिए। मोटे हिसाब से तो यही कहना पडेगा कि आज हमारे गरीब देहातियों की आवश्यकताऍं बढानी चाहिऍ।

वृत्ति-परिवर्त्तन की आवश्यकता

यदि हम गॉवों मे जाकर बैठे है तो हमें इसके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियों का रहन-सहन ऊपर उठे और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हम ज़रा-ज़रा-सी बातें भी तो नहीं करते। महीना-डेढ महीना हुआ, मेरे पैर मे चोट लग गयी। किसी ने कहा उसपर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थान पर आ भी पहुॅचा। किसी ने कहा, मोम लगाओ, उससे ज़्यादा फ़ायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मर-हम और मोम दोनो आख़िर मिट्टी के ही वर्ग के तो हैं। इसलिए

मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिल्कुल अच्छा नही हुआ है। लेकिन अब मजे मे चल सकता हूँ। हमे मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नहीं सूझता। कारण, उसमे हमारी श्रद्धा नही, विश्वास नही।

हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नगा शरीर दिखाने की हमें बुद्धि नही होती। सूर्य के सामने अपना शरीर खुला रखो, तुम्हारे सारे रोग भाग जायेंगे। लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षा से लाचार हैं। डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हे तपेदिक हो गया तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरते किस तरह कम कर सकेंगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मै यहाँ सन्यासी का धर्म नही बतला रहा हूँ। खासे सद्गृहस्थ का धर्म बतला रहा हूँ। ठंढी आब-हवावाले देशो के डाक्टर कहते है कि बच्चो की हड्डियाँ बढाने के लिए उन्हे "कॉड लिवर आयल" दो। जहाँ सूर्य नहीं है ऐसे देशो मे दूसरा उपाय ही नही है। काड लिवर के बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होगे। यहाँ सूर्य-दर्शन की कमी नही। यहाँ यह "महा कॉड लिवर आयल" भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नही करते। यह हमारी दशा है। हमे लँगोटी लगाने मे शर्म आती है। छोटे बच्चो पर भी हम कपड़े की बाइडिग (जिल्द) चढाते है। नगे बदन रहना असभ्यता का लक्षण माना जाता है। वेदों में प्रार्थना की गयी है कि, "मा नः सूर्यस्य सदृशो युयोथाः।"—"हे ईश्वर, मुझे सूर्य-दर्शन से दूर न रख।" वेद और विज्ञान दोनो कहते हैं कि खुले शरीर रहो। कपडे की जिल्द मे कल्याण नही। हम अपने आचार से ये विनाशक चीजे गाँवो मे दाखिल न करे। हम देहात मे जानेपर भी अपने बच्चो को आधी या पूरी लम्बाई का पतलून पहनाते हैं। इसमे उन बच्चो का कल्याण तो है ही नहीं, उलटे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकलता है कि दूसरे बच्चो मे और उनमे भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगो को भी अपने बच्चो को सजाने का शौक पैदा हो जाता है। एक फुजूल की जरूरत पैदा

हो जाती है। हमे देहातो में जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिएँ। यह विचार का एक पहलू हुआ।

हिन्दुस्तान का महारोग

देहातो की आमदनी बढ़ाना इस विचार का दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढ़ायी जाय ? हममे आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एक का विशेषण दूसरे को जोड़ देना साहित्य मे एक अलंकार माना गया है। "कहे लड़की से, लगे बहू को", इस अर्थ की जो कहावत है उसका भी अर्थ यही है। बहू को यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लड़की को सुनाती है। उसी तरह हम कहते है, "देहाती लोग आल्सी हो गये।" दरअसल, आल्सी तो हम है। यह विशेपण पहले हमे लागू होता है। हम इसका उनपर आरोप करते है। बेकारी के कारण उनके शरीर में आलस्य भले ही भिद गया हो, परन्तु उनके मनमें आलस्य नही है। उन्हे बेकारी का शौक नहीं है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्त्ताओ के तो मन मे भी आलस्य है और शरीर मे भी। आलस्य हिन्दुस्तान का महारोग है। यह बीज है। बाहरी महारोग इसका फल है। हमे इस आलस्य को दूर करना चाहिए। सेवक को सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए। और कुछ न हो तो गॉव की परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डियाँ ही बटोरे। यह भगवान् शंकर का कार्यक्रम है। हड्डियॉ इकट्ठी करके चर्मालय में भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टी में मिट्टी लेकर रास्ते पर जहॉ-जहॉ खुला हुआ मैला पड़ा हो उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशल की जरूरत नहीं।

कुशल औज़ार

हमारे सेनापति बापट ने एक कविता में कहा है कि, "झाड़ू, खपरैल और खुरपा, ये औजार धन्य हैं।" ये कुशल औजार हैं। जिस

औजार का उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजार के उपयोग के लिये कम-से-कम कुशलता की जरूरत हो वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है। खपरैल और झाड़ू ऐसे ही औजार है। झाड़ू सिर्फ फिराने की देर है, भू-माता स्वच्छ हो जाती हैं। खपडिया मे जरा भी आनाकानी किये बिना मैला आ जाता है। यत्रशास्त्र के प्रयोग इस दृष्टि से होने चाहिएँ। खपरैल, खुरपा और झाड़ू के लिए पैसे नही देने पडते। इसलिए ये सीधे-सादे औज़ार धन्य है!

केवल हवाख़ोरी मना है

रामदास ने अपने 'दासबोध' में सुबह से शाम तक की दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सबेरे शौच-क्रिया के लिए बहुत-दूर जाओ और वहाँ से लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ। वह कहते है कि खाली हाथ आना खोटा काम है। सिर्फ हाथ हिलाते नहीं आना चाहिए। कोई-कोई कहते है कि हम तो हवा खाने गये थे। लेकिन हवा खाने का काम से विरोध क्यो हो? कुदाली से खोदते हुए क्या नाक बन्द करली जाती है? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है। परन्तु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवावाली जगह मे बैठे रहते है। इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। मगर कार्यकर्त्ता को सदा खुली हवा मे काम करने की आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ ज़रूर लाया करे। देहात मे वह दतुअन ला सकता है। लीपने के लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से-कम किसी एक खेत के कपास के पेड़ ही गिनकर आ सकता है, यानी फसल का ज्ञान अपने साथ ला सकता है। मतलब, उसे फुजूल चक्कर नही काटने चाहिएँ। देहात मे काम करनेवाले ग्राम-सेवक को सुबह से लेकर शाम तक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

एक मुँह पीछे दो हाथ

लोगों की शक्ति कैसे बढेगी, इसके विषय मे अब कुछ कहूँगा। देहातो मे बेकारी और आलस्य बहुत है। देहात के लोग मेरे पास आते और कहते है, "महाराज, हम लोगो का बुरा हाल है। घर में चार खाने-वाले मुँह हैं।" न जाने वे मुझे 'महाराज' क्यो कहते हैं? मेरे पास कौन-सा राज धरा है? मैं उनसे पूछता हूँ, "अरे भाई, घर में अगर खाने वाले मुँह न हो तो क्या बगैर-खानेवाले हो? बगैर-खानेवाले मुँह तो मुर्दों के होते हैं। उन्हे तो तुरन्त बाहर निकालना होता है। तुम्हारे घर मे चार खानेवाले मुँह हैं, यह तो तुम्हारा वैभव है। वे तुम्हे भार क्यो हो रहे है? भगवान् ने आदमी को अगर एक मुँह दिया है तो उसके साथ-साथ दो हाथ भी तो दिये हैं। अगर वह एक समूचा मुँह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल थी। तुम्हारे यहाँ चार मुँह है तो आठ हाथ भी तो है। फिर भी शिकायत क्यो? लेकिन हम उन हाथो का उपयोग करें, तब न? हमे तो हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहने की आदत होगयी है, हाथ जोडने की आदत होगयी है। जब हाथ चलना बन्द होजाता है तो मुँह चलना शुरू होजाता है। फिर खाने-वाले मुँह आदमी को ही खाने लगते हैं।

सव्यसाची बनो

हमे अपने दोनो हाथो से एक-सा काम करना चाहिए। पौनार में कुछ लडके कातने आते है। उनसे कहा, "बायें हाथ से कातना शुरू करो।" उन्होंने यहीं से कहना शुरू किया कि 'हमारी मजदूरी कम हो जायगी। बायाँ हाथ दाहिने की बराबरी नहीं कर सकेगा।" मैंने कहा, "यह क्यों? दाहिने हाथ मे अगर पाँच अँगुलियाँ हैं तो बायें हाथ में भी तो हैं। फिर क्यों नहीं बराबरी कर सकेगा?" निदान, मैंने उनमें से एक लड़का चुन लिया और उससे कहा कि "बायें हाथ से कात।" उसे जितनी मजदूरी

कम मिलेगी उतनी पूरी कर देने का जिम्मा मैंने लिया। चौदह रोज मे वह साढ़े चार रुपये कमाता था। बाये हाथ से पहले पखवाड़े मे ही उसे क़रीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाख मे बायाँ हाथ दाहिने की बराबरी पर आ गया। एक रुपया मैंने अपनी गिरह से पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आँखे खुल गयीं। यह कितना बडा लाभ हुआ ? मैंने लड़को से पूछा, "क्यो लडको, इसमे फायदा है कि नहीं ?" वे कहने लगे, "हाँ, क्यो नही ?" दाहिना हाथ भी तो आठ घण्टे लगातार काम करने मे धीरे-धीरे थकने लगता है। अगर दोनो हाथ तैयार हो तो अदल-बदल कर सकते हैं और थकावट बिलकुल नही आती। अठाईस-के-अठाईसो लड़के बाये हाथ का प्रयोग करने के लिए तैयार हो गये !

शुरू-शुरू मे हाथ मे थोड़ा दर्द होने लगता है। लेकिन यह सात्त्विक दर्द है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरू मे जरा कडुआ ही लगता है। पुराणो का वह एकदम मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर, जैसा कि गीता मे कहा है, सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है ? गीता मे बताया हुआ सात्त्विक सुख तो प्रारम्भ में कडुआ ही होता है। मेरी बात मानकर लड़को ने तीन महीने तक सिर्फ बाये हाथ से कातने का प्रयोग करने का निश्चय किया। तीन महीने मानो दाहिने हाथ को बिलकुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

अनिन्दा का व्रत

देहात मे निन्दा का दोष काफी दिखलाई देता है। यह बात नहीं कि शहर के लोग इससे बरी है। लेकिन यहाँ मै देहात के ही विषय मे कह रहा हूँ। निन्दा सिर्फ पीठ-पीछे ज़िन्दा रहती है। उससे किसी का भी फायदा नही होता। जो निन्दा करता है उसका मुँह खराब होता है और जिसकी निन्दा की जाती है उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह जानता

तो था कि देहातियो मे निन्दा करने की आदत होती है। लेकिन यह रोग इतने उग्र रूप मे फैल गया होगा, इसका मुझे पता न था। इधर कुछ दिनो से मैं सत्य और अहिंसा के बदले सत्य और अनिन्दा कहने लगा हूँ। हमारे सन्तो की बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। उनके वाङ्मय का रहस्य अब मेरी समझ मे आया। वे देहातियो से भली भॉति परिचित थे। इसलिये उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निन्दा न करो, चुगली न खाओ। सन्तो के लिये मेरे मन मे छुटपन से ही भक्ति है। उनके किये हुए भक्ति और ज्ञान के वर्णन मुझे बड़े मीठे लगते थे। लेकिन मैं सोचता था कि 'निन्दा मत कर' कहने मे क्या बड़ी विशेषता है। उनकी नीति-विषयक कविताएँ मैं पढ़ता तो था, लेकिन वे मुझे भाती न थीं। परस्त्री को माता के समान समझो, पराया माल न छुओ, और निन्दा न करो—इतने मे उनकी नैतिक शिक्षा की पूँजी खतम हो जाती थी। भक्ति और ज्ञान के साथ-साथ उसी श्रेणी मे वे इन चीजो को भी रखते थे। यह मेरी समझ मे न आता था। लेकिन अब ख़ूब अच्छी तरह समझ गया हूँ। निन्दा का दुर्गुण उन्होने लोगो की नस-नस मे पैठा हुआ देखा, इसलिए उन्होने अनिन्दा पर बार-बार इतना जोर दिया और उसे बड़ा भारी सद्गुण बतलाया। कार्यकर्ताओं को यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निन्दा करेंगे और न सुनेंगे। निन्दा में अकसर ग़लती और अत्युक्ति होती है। साहित्य में अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है! संसार को चौपट कर दिया है इन साहित्यवालों ने। वस्तुस्थिति को तिगुना, दसगुना, बीसगुना बढ़ाकर बताना उनके मत में अलकार है। तो क्या जो चीज़ जैसी है उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटने के समान है? कथाकार और प्रवचनकार की अत्युक्ति का कोई ठिकाना ही नहीं। एक को सौगुना बढाने का नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई नाप होती तो अतिशयोक्ति से वस्तुस्थिति की कल्पना कर

सकते। लेकिन यहाँ तो कोई हिसाब ही नही है। वे एक का सौगुना नही करते बल्कि शून्य को सौगुना बढाते हैं। सुनता हूँ, सौ अनन्त का गुणा करने से कोई एक अक आता है, लेकिन यह तो गणितज्ञ ही जानें।

सचाई का सूक्ष्म अभ्यास

तीसरी बात जो मै आप लोगो से कहना चाहता हूँ वह है सचाई। हमारे कार्यकर्त्ताओ मे स्थूल अर्थ मे सचाई है, सूक्ष्म अर्थ मे नहीं। अगर मै किसी से कहूँ कि तुम्हारे यहाँ सात बजे आऊँगा तो वह पाँच ही बजे से मुझे लेने के लिए मेरे यहाँ आकर बैठ जाता है, क्योंकि वह जानता है कि इस देश मे जो कोई किसी खास वक्त आने का वादा करता है वह उस वक्त आयेगा ही इसका कोई नियम नहीं। इसलिए वह पहले से ही आकर बैठ जाता है। सोचता है कि दूसरे के भरोसे काम नहीं बनता। इसलिए हमे हमेशा बिल्कुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गाँववाले से आप कोई काम करने के लिए कहिए तो वह कहेगा, 'जी हाँ'। लेकिन उसके दिल मे वह काम करना नहीं होता। हमे टालने के लिए वह 'जी हाँ' कह देता है। उसका मतलब इतना ही होता है कि अब ज़्यादा तग न कीजिए। 'जी हाँ' से उसका मतलब है कि यहाँ से तशरीफ लेजाइए। उसके 'जी हाँ' मे थोड़ा अहिंसा का भाव होता है। वह 'आगे बढ़िए' कहकर आपके दिल को चोट पहुँचाना नहीं चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ नहीं देना चाहता। इसलिए 'जी हाँ' कहकर जान बचा लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियो से कराना चाहे वह उन्हे समझा भर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत नहीं लिवाना चाहिए। जब से मैं देहात मे गया तबसे किसीसे किसी बात के विषय मे वचन लेने से मुझे चिढ़-सी हो गयी है। अगर मुझसे कोई कहे भी कि मैं यह

बात करूँगा तो मै उससे यहीं कहूँगा कि "यह तुम्हे जँचती है न ? बस, तो इतना काफी है। वचन देने की जरूरत नहीं। तुम से हो सके तो करो।" लोगो को उसकी उपयोगिता समझाकर सन्तोष मान लेना चाहिए। क्योकि किसीसे कोई काम करने का वचन लेने के बाद उस काम के कराने की जिम्मेदारी हमपर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूप से झूठ बोलने मे सहायता करते है। राजकोट-प्रकरण और क्या चीज़ है ? अगर कोई हमारे सामने किसी विषय में वचन देदे और फिर उसे पूरा न करे तो इसमे हमारा भी अधःपतन होता है। इसीलिए बापू को राजकोट मे इतना सारा प्रयास करना पड़ा। इसलिए वचन, नियम या व्रत मे किसीको बाँधना नहीं चाहिए और अगर किसीसे वचन लेना ही पड़े तो वह वचन अपना समझ कर उसे पूरा कराने की सावधानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करने में हर तरह से मदद करनी चाहिए। सचाई का यह गुण हमारे अन्दर होना चाहिए।

सूक्ष्म असत्य

बाइबल मे कहा है, "ईश्वर की कसम न खाओ"। आपके दिल में 'हाँ' हो तो हाँ कहिए और 'ना' हो तो ना कहिए। लेकिन हमारे यहाँ तो रामदुहाई भी काफी नहीं समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नहीं मानी जाती। सिर्फ़ 'हाँ' कहने का अर्थ इतना ही है कि "आपकी बात समझ में आ गयी। अब देखेंगे, विचार करेंगे"। किसी मज़बूत पत्थर पर एक-दो चोट लगाइए तो उसे पता भी नहीं चलता। दस-पाँच मारिए, तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोटें लगाइए तब कहीं उसे पता चलता है कि "अरे, यह व्यायाम नहीं कर रहा है। यह तो मुझे फोड़ने जा रहा है।" एक बार हाँ कहने का कोई अर्थ ही नहीं। दो

बार कहने पर वह सोचने लगता है कि मैने हॉ कर दी है। और जब तीसरी बार हॉ कहता है तब उसके ध्यान मे आता है कि मैने जान-बूझकर हॉ कही है। कुल का अर्थ इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टि से झूठ हमारी नस-नस में भिद गया है। इसलिए कार्यकर्त्ताओ को अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करें उसे करके ही दम ले। इसमे तनिक भी गलती न करे। दूसरे से कोई वचन न लें। उस झझट में न पडे।

पुरानी और नयी पीढ़ी

अब कार्यकर्त्ताओं से कार्य-कुशलता के बारे मे दो-एक बाते कहना चाहता हूँ। जब हम कार्य करने जाते है तो चालू पीढी के बहुत पीछे पडते है। चालू पीढ़ी का तो विशेषण ही 'चालू' है। वह चलती चीज़ है। उसकी सेवा कीजिए। लेकिन उसके पीछे न पडिए। उसके शरीर के समान उसका मन और उसके विचार भी एक सॉचे मे ढले हुए होते हैं। जो नयी बात कहना हो वह नौजवानो से कहनी चाहिए। तरुणो के विचार और विकार दोनो बलवान् होते है। इसीलिए कुछ लोग उन्हे उच्छृङ्खल भी कहते है। इसमे सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते है। अगर उनके विचार बलवान् हो सकते है तो वैराग्य भी जबरदस्त हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे विकारो का शमन होता जाता है। मोटे हिसाब से यह सच है। लेकिन इसका कोई भरोसा नहीं। यह कोई शास्त्र नही है। हमारी बात चालू पीढी को अगर जॅचे तो अच्छा ही है, और न जॅचे तो भी कोई हानि नहीं। भावी पीढी को हाथ में लेना चाहिये। युवक ही नये-नये कामो मे हाथ डालते हैं, बूढे नहीं। विकार किस तरह बढ़ते या घटते है, यह मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना ही पडेगा कि वृद्धो की अपेक्षा तरुणो मे आशा ओर हिम्मत ज़्यादा होती है।

फल-प्राप्ति की अधीरता

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फल की आशा नहीं करनी चाहिए। पाँच-दस साल काम करने पर भी कोई फल होता हुआ न देखकर निराश न होना चाहिए। हिन्दुस्तान के लोग बीस हजार साल के बूढे है। जब किसी गाँव मे कोई नया कार्यकर्त्ता जाता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु-सन्त भी आये और चले गये। नया कार्यकर्त्ता कितने दिन टिकेगा, इसके विषय मे उन्हें सन्देह होता रहता है। अगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्युतक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं।

समरसता का अर्थ

ग्रामवासियो से 'समरस' होने का ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रंग हमपर भी चढ जाये, इसका नाम उनसे मिलना नहीं है। इस तरह मिलने से तद्रूपता आने लगती है। मेरे मत से समाज के प्रति आदर का जितना महत्त्व है उतना परिचय का नहीं। समाज के साथ समरस होने से उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमे अहंकार है। हम क्या कोई पारस पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्श से समाज की उन्नति हो जायगी? केवल समाज से समरस होने से काम होगा, यह मानने मे जड़ता है। रामदास कहते हैं, "मनुष्य को ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदाय का हौसला रखना चाहिए; लेकिन अखण्ड और स्थिर होकर एकान्त सेवन करना चाहिए।" वे कहते हैं कि, "कोई जल्दी नही है। शान्ति से अखण्ड एकान्त-सेवन करो।" एकान्त-सेवन से आत्म परीक्षण का मौका मिलता है। लोगों से किस हद तक सम्पर्क बढाया जाय, यह ध्यान में आता है। अन्यथा अपना निजी रंग न रहकर उसपर दूसरे रंग चढने लगते हैं। कार्यकर्त्ता फिर देहातियों

के रग का ही हो जाता है। उसके चित्त मे व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालय की शरण लूँ। एकाध बडे आदमी के पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संग करना चाहता हूँ। फिर वे महादेव जी और ये नन्दी, दोनो एक जगह रहने लगते है ! वह कहता है, "मै बड़ा होकर खराब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है। इसमे कोई लाभ नही।" इसलिए समाज मे सेवा के लिए ही जाना चाहिए। बाकी का समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षण मे बिताना चाहिए। आत्म-परीक्षण के बिना उन्नति नहीं हो सकती। अपने स्वतंत्र समय में हम अपना एकाध प्रयोग भी करें। कई कार्यकर्त्ता कहते हैं, "क्या करें, चिन्तन के लिए समय ही नही मिलता। ज़रा बैठे नही कि कोई-न-कोई आया नहीं।" जो आये उससे बोलने मे समय बिताना सेवा नहीं है। कार्यकर्त्ता को स्वाध्याय और चिन्तन के लिए अलग समय रखना चाहिए। एकान्त-सेवन करना चाहिए। यह भी देहात की सेवा ही है।

स्त्रियों की सेवा करो

एक बात स्त्रियो के सम्बन्ध में। स्त्रियो के लिए कोई काम करने मे हम अपनी हतक समझते हैं। पौनार का ही उदाहरण लीजिए। व्याकरण के अनुसार जिनकी गणना पुल्लिंग मे हो सकती है ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नहीं फींचता। बाप के कपडे लडकी धोती है, लडके के कपडे माँ धोती है और भाई के कपडे बहन को धोने पडते है। माँ की साडी फींचने मे भी हमे शर्म आती है, तो पत्नी की साडी धोने की तो बात ही क्या ! अगर विकट प्रसग आजाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है। और वह भी न मिले तो पडोसिन यह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नी की साडी साफ करने का मौका आ ही जाय, तो फिर वह काम शाम को, कोई देख न पाये ऐसे इन्तजाम से, चुपचाप,

चोरी से, कर लिया जाता है। यह हालत है! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिलकुल उलटा है। लेकिन अगर आप मेरी बात पर अमल करें तो आगे चलकर वे स्त्रियाँ ही आप के कपडे बना देंगी, इसमें तनिक भी शंका नहीं। एक बार मैं खादी का एक स्वावलम्बन-केन्द्र देखने गया। दफ़्तर मे कोई सत्तर-पचहत्तर स्वावलम्बी खादी-धारियो की तालिका टँगी हुई थी। लेकिन उसमे एक भी स्त्री नहीं थी। वहाँ जो सभा हुई उसमें मेरे कहने से खासकर स्त्रियाँ भी बुलायी गयी थीं। मैंने पूछा, 'यहाँ इतने स्वावलम्बी खादीधारी पुरुष हैं; तो क्या स्त्रियाँ न कातेंगी?'' स्त्रियों ने जवाब दिया, ''हम ही तो कातती हैं।'' तब मैंने खुद कातनेवाले पुरुषों से हाथ उठाने को कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे। शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गये सूत के ज़ोर पर स्वावलम्बी थे। इसलिए कहता हूँ कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिए। आगे चलकर वे ही आपके सारे कपडे तैयार कर देंगी। कम से कम-खादी-यात्रा में पहनने के लिए एक साड़ी अगर आप उन्हें बना दें तो भी मैं सन्तोष मान लूँगा। अगर वे वहाँ आयेंगी तो कम-से-कम हमारी बातें तो उनके कानों तक पहुँचेंगी।

: २३ :

चरखे का सहचारी भाव

पुराने जमाने की बात है। एक सत्य वक्ता, विशुद्धमना साधु वन मे तप करते थे। उनके शान्त तप के प्रभाव से वहाँ के पशु-पक्षी आपसी वैर-भाव भूल गये थे जिससे वन-का-वन एक आश्रम जैसा बन गया था। जिस तप के बल से वन-केसरी का स्वभाव बदल जाय उससे इन्द्र का सिंहासन डोलने लगे तो इसमे क्या आश्चर्य है। इन्द्र ने उस साधु का तप भग करना तै किया। हाथ मे तलवार ले योद्धा का भेस बना वह साधु के पास आये, और विनती करने लगे—"क्या आप मेरी यह तलवार कृपा करके अपने पास धरोहर की भाँति रख लेंगे?" न जाने साधु ने क्या सोचकर उनकी विनती मान ली। इन्द्र चले गये। साधु ने धरोहर सँभाल कर रखने की जिम्मेदारी ली थी, वह दिन-रात तलवार अपने साथ रखने लगे। देवपूजा के लिए पुष्प आदि लेने जाते तो भी तलवार साथ होती। आरम्भ में उन्होंने विश्वास के नाते तलवार अपनायी थी, धीरे-धीरे तलवार पर उनका विश्वास जमता गया। तलवार नित्य साथ रखते-रखते तपस्या से श्रद्धा जाती रही। यह बात उनके ध्यान मे भी न आयी। साधु क्रूर हो गया, इन्द्र का सिंहासन स्थिर और निर्भय हो गया और वन के हरिण डर के मारे काँपने लगे।

रामचद्रजी के दण्डक वन में घूमते समय उनके हाथो कहीं हिसा न हो जाय, इस विचार से यह सुदर कथा सीताजी ने उनसे कही थी।

हर वस्तु के साथ उसका सहचारी भाव आता ही है। इस कथा का इतना ही भाव है। जैसे सूर्य के समीप उसकी किरणें वैसे ही वस्तु के समीप उसका सहचारी भाव होता है।

हम कहते हैं चरखे का सर्वत्र प्रचार हो जाय तो स्वराज्य मिला ही समझिए। इसका मतलब बहुतो की समझ मे नहीं आता। कारण, चरखे के सहचारी भाव उनके ध्यान मे नहीं आते। घर मे एक चरखा आते ही अपने साथ कितनी भावनाएँ लाता है, यह हम नहीं जानते। बिजली की भॉति सारा वातावरण पल भर मे बदल जाता है। राजा के बाहर निकलने पर हम कहते है—"राजा की सवारी निकली है।" चरखा घर के भीतर आया तो चरखे की सवारी भीतर आती है। इस सवारी में कौन-कौन से सरदार शामिल होते है, इसपर विचार करें तो 'चरखे से स्वराज्य' का रहस्य समझ मे आजाये।

थोड़े दिन हुए एक धनिक सज्जन ने जिन्होंने कांग्रेस के नियमानुसार हाल मे ही चरखा कातना शुरू किया था चरखे के विषय में अपना यह अनुभव बताया था। "पहले मेरे मन मे चाहे जैसे-तैसे व्यर्थ विचार आया करते थे। चरखा कातना शुरू करने पर यह बात अपने आप बद हो गयी। बीच में एक बार जी मे आया कि बड़े लोग मोटर रखते है, मै भी एक मोटर लूँ। पर तुरत ही यह विचार हुआ कि एक ओर चरखा और दूसरी ओर मोटर के पीछे मेरा पैसा विदेश जाय, यह ठीक नहीं। मोटर के बिना मेरा कोई काम अटका भी नहीं है। यह अनुभव एक दो का नहीं; बहुतो का है। चरखे के सहचारी भावों में गरीबो के प्रति सहानुभूति, गरीबो की कद्र और उसमें ही रस मानना एक महत्त्वपूर्ण भाव है। गरीब और अमीर में एकता लाने की सामर्थ्य जितनी चरखे में है उतनी और किसी चीज़ मे नहीं।

गरीब और अमीर का झगड़ा सारी दुनिया को परेशान कर रहा

है। इसे मिटाने की शक्ति अकेले चरखे मे ही है। गरीब-अमीर एक हो जायँ तो स्वराज्य मिलते कितनी देर?

आज अपने समाज के, अधा मजदूर और लॅगडा पण्डित, ये दो भाग हो गये है। सुशिक्षितो मे स्वराज्य की भावना है पर कार्य करने की शक्ति नहीं। अशिक्षितो मे कार्य करने की शक्ति है तो भावना नहीं। अधे और लँगडे की इस जोड़ी को जोडने की कला केवल चरखे मे है। यो तो चरखा एक सीधी-सादी सी चीज दिखाई देता है। और है भी वह ऐसा ही। पर इस सीधी-सी वस्तु के लिए भी बढई लुहार चमार आदि के चरणो मे बैठना पडता है। अपने छोटे भाई को मैने एक बढई के पास काम सीखने को रखा था। शुरू शुरू मे तो बढई बडे अदब से सिखाता-बताता था, पर थोडे दिन बाद ही उसे मालूम हो गया कि मेरा शिष्य और बातो मे चाहे विद्वान् हो पर इस काम मे मूर्ख है। फलतः एक दिन धमकाकर बोला "इतना बताया तो भी 'तू' नहीं समझता?" शुरू-शुरू मे वह 'तुम' कहता था। लेकिन उम्र छोटी होते हुए भी जब उसके मुँह से 'तू' निकल पडा तो मुझे आनन्द हुआ। जान पड़ा स्वराज्य पास आ गया है। एक बार मैं चरखा कात रहा था, एक ढेड बुनकर मुझसे मिलने आया। (यह सयोग भी चरखे के आन्दोलन के बिना नहीं आता।) मै कातते कातते उसके साथ बाते करता जाता था। तकुए में कुछ दोष था जिससे अच्छा कातते नहीं बनता था। उस ढेड के ध्यान में तुरन्त यह बात आ गयी थी और क्या दोष है, यह उसने मुझे बताया। मुझ जैसे 'विद्वान्' को सिखाने में उसको कितना आनंद आया होगा और हम एक दूसरे के कितने पास आये होंगे! सुशिक्षित और अशिक्षित एक हो जायँ तो स्वराज्य क्यो न मिले?

आज हिन्दू-मुसलमान के झगडो का प्रश्न बड़ा विकट हो गया है। मैं समझता हूँ कि इसे हल करने की शक्ति भी केवल चरखे मे ही है।

प्रत्येक मन्दिर और मसजिद मे चरखे का प्रवेश हो जाय तो सब झगड़े खत्म हो जायँ। अवश्य ही, आजकी परिस्थिति में ऐसा होने के लिए भी दूसरी कितनी ही वस्तुओ की सहायता दरकार होगी। लेकिन चरखा कातनेवाला, कोई भी हिन्दू या मुसलमान, एक दूसरे का सिर तोडने को कभी तैयार न होगा, यह बात पक्की है। जिस तरह तलवार को साथ रखते-रखते मनुष्य हिंसक बन जाता है उसी तरह वह चरखे के साथ से शान्त बन जाता है। शान्ति या अहिंसा ही चरखे का सहचारी भाव है। समाज मे शान्ति स्थापित हो और उससे हिन्दू-मुस्लिम झगड़ो का अन्त हो जाय तो स्वराज्य क्यो न मिले ?

चरखे के सहचारी भावो के यथार्थ स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। और किया भी जाय तो केवल पढ़कर वह समझा नहीं जा सकता। उसके लिए तो खुद चरखे से ही दोस्ती करनी होगी। दोस्ती पक्की होते ही चरखा खुद ही अपने सब रहस्य बता देता है। उसकी संगीत-मधुर-वाणी एक बार कान मे पड़ी कि सारी कुशंकाएँ मिटी समझिए। इसलिए यह लेख पूरा करने के पचड़े में न पडकर, उसका बाकी हिस्सा पाठक चरखे में से कात ले। उनसे इतनी प्रार्थना करके मै यहीं विश्राम लेता हूँ।

: २४ :

सारे धर्म भगवान् के चरण हैं

पिछले दिनो बम्बई में, इस्लाम के एक अध्येता श्री मुहम्मदअली का 'कुरान के अध्ययन' पर एक भाषण हुआ था। उसमे उन्होने जो विचार प्रकट किये थे वैसे आजकल के असहिष्णु युग मे बहुत कम सुनाई देते हैं।

उन्होने कहा, "कुरान के उपदेश के सम्बन्ध में हिन्दुओ या ईसाइयो के दिलों मे होनेवाली विपरीत भावनाओ की जिम्मेदारी मुसलमानो की है। परधर्मों के विषय मे जो वृत्ति कुरान की मानी जाती है उसके लिए वस्तुतः कुरान जिम्मेदार नहीं है, बल्कि वे चन्द मुसलमान है जो कुरान के उपदेश के खिलाफ आचरण कर रहे है। कुरान का उचित रीति से अध्ययन करने से विदित होगा कि कुरान की रू से जहॉ-जहॉ ईश्वर-शरणता है वहाँ-वहॉ इस्लाम है। मै खुद किसी समय नास्तिक और ऊपरी—अर्थात हिन्दू-विरोधी या ईसाई-विरोधी के अर्थ मे—मुसलमान था। पर कुरान पढने पर इस्लाम का असली अर्थ मेरी समझ मे आ गया और आज मैं एक सच्चे हिन्दू या सच्चे ईसाई को असली मुसलमान समझ सकता हूँ।"

यह दृष्टि शुद्ध है। सच्चे हिन्दू मे मुसलमान है और सच्चे मुसलमान में हिन्दू है। हममें पहचानने भर की शक्ति होनी चाहिए। विट्ठल का उपासक विट्ठल की उपासना कभी नहीं छोड़ेगा। वह जन्म भर विट्ठल का ही उपासक रहेगा। लेकिन वह राम की उपासना का विरोध न

करेगा तो वह विट्ठल मे भी राम देख सकता है। यही बात रामोपासक पर लागू है। उसे राम की मूर्त्ति मे विट्ठल के दर्शन होते है *।

धर्माचरण एक उपासना है। उपासना में विरोध की गुंजाइश नही। जैसे 'राम' और 'विट्ठल' एक ही परमेश्वर की मूर्त्तियाँ है, और उनमें विशिष्टता होते हुए भी उनका विरोध नहीं है; वैसे ही हिन्दू-धर्म, मुसलिम-धर्म इत्यादि एक ही सत्य-धर्म की मूर्त्तियाँ हैं, इसलिए उनमें विशिष्टता होते हुए भी विरोध नहीं है। जो ऐसा देखता है वही वास्तव मे देखता है।

रामकृष्ण परमहंस ने भिन्न-भिन्न धर्मों की साधना स्वयम् करके सब धर्मों की एकरूपता प्रत्यक्ष कर ली। तुकाराम ने अपनी उपासना के सिवा दूसरे किसी की उपासना न करते हुए भी सारी उपासनाओं की एकवाक्यता जान ली। जो स्वधर्म का निष्ठा से आचरण करेगा उसे स्वभावतः ही दूसरे धर्मों के लिए आदर रहेगा। जिसे परधर्म के लिए अनादर हो उसके बारे मे समझ लीजिए कि वह स्वधर्म का आचरण नहीं करता।

धर्म का रहस्य जानने के लिए न तो कुरान पढ़ने की ज़रूरत है, न पुराण पढ़ने की। 'सारे धर्म भगवान् के चरण हैं', इतनी एक बात जान लेना बस है।

---

* तुलसीदासजी ने कहा नहीं है—"मोर मुकुट कटि काछनी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नवे, धनुष बाण लो हाथ।"